स्वतन्त्रता और संस्कृति

सर्वपल्ली राधाकृष्णन्
भूतपूर्व वाइस-चान्सलर काशी विश्वविद्यालय

अनुवादक

विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी, एम० ए०, बी० एड०

अपर इंडिया पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड
अमीनुद्दौला पार्क, लखनऊ।

इण्डियन लिटरेरी इन्स्टीट्यूट
के लिये
अपर इन्डिया पब्लिशिंग हाउस लि०
द्वारा प्रकाशित

मुद्रक
भार्गव-प्रिंटिंग-वर्क्स, लखनऊ

स्वतन्त्रता और संस्कृति

विषय-क्रम

विश्वविद्यालय तथा राष्ट्रीय जीवन		...	१
शिक्षा तथा राष्ट्रीयता	...	...	२५
नेतृत्व की शिक्षा	...	...	४२
बाल्य-भावना	...	...	५७
शिक्षा एवं नवीन लोकतंत्रवाद	...	...	७३
लोकतंत्र तथा तानाशाही	...	...	९१
नवीन सामाजिक व्यवस्था	...	...	१०७
भारतवर्ष में पाश्चात्य शिक्षा	...	...	११३
विद्वानों का उत्तरदायित्व	...	...	१२७
बौद्धिक सहयोग	...	...	१३९
महिलाओं से अनुरोध	...	...	१४२
जन-तंत्रात्मक-संघ का समर्थन	...	...	१४८
ब्रिटेन और भारत	...	...	१५२
निष्कर्ष	...	...	१६३
सभ्यता और न्याय	...	...	१६५
यथार्थ स्वतंत्रता	...	...	१७३

विश्वविद्यालय तथा राष्ट्रीय जीवन

यद्यपि 'विश्व-विद्यालय' शब्द प्रयोग की दृष्टि से भारत के लिए आधुनिक है पर उसके अर्थ एवं भाव से हम युगों से परिचित हैं। हमारे प्राचीनतम लेख यदि प्रामाणिक हैं तो उनसे हमें पता चलता है कि प्रसिद्ध कुल-पतियों के समीप अद्भुत उत्साह के साथ, विस्मयकारी संख्या में छात्रगण इकट्ठे हुआ करते थे। वैयाकरण पाणिनि की जन्मभूमि एवं पश्चिमोत्तर भारत में स्थित गांधारदेश की राजधानी तक्षशिला ईसा-पूर्व चतुर्थ शताब्दी में भी सम्पूर्ण भारत के योग्य युवकों का आकर्षण-केन्द्र बनी हुई थी। नालन्द, विक्रम शिला, हमारा धरणिकोट, काशी तथा नवद्वीप ऐसे सांस्कृतिक केन्द्र थे जहाँ न केवल भारतीय प्रत्युत पूर्व-एशिया के सुदूर स्थित भागों से भी ज्ञानपिपासा कुलित छात्र बहुत बड़ी संख्या में एकत्रित होते थे। समस्त

शिक्षकों तथा शिक्षार्थियों के समुदाय से विनिर्मित यह 'विश्व' एक प्रकार का संयुक्त सामाजिक जीवन यापन करता था। हमारी यही शिक्षाशालायें देश के उन्नत मस्तिष्क, धार्मिकता एवं उच्चादर्शों के विकास का मूल कारण थीं। उन्हीं की सहायता से हम एक ऐसे समाज की सृष्टि करने में समर्थ हो सके थे जिसे, यदि हम चाहें तो, 'विश्वविद्यालय-संसार' कह सकते हैं, जहाँ सांस्कृतिक ऐक्य था—जहाँ मूलभूत लक्ष्यों तथा विचारों में गम्भीर सामञ्जस्य पाया जाता था। आज की परिवर्तित परिस्थिति में विश्वविद्यालय ही वह सत्ता है जिसे विचारों एवं आदर्शों के क्षेत्र में नेतृत्व ग्रहण करना होगा। घोर धार्मिक तथा साम्प्रदायिक वैमनस्य से पीड़ित भारत में आज विश्वविद्यालय-जनित अपनी ही आलोचना कर सकने की शक्ति और दूसरों के विश्वास एवं प्रथाओं के प्रति उदारतापूर्ण विवेकशीलता के अधिकाधिक प्रचार की आवश्यकता है। मुझे भय है कि शास्त्री-पण्डित, मुल्ला-मौलवी, तथा परम्पराभुक्तधर्म-प्रचारक पादरी वर्त्तमान स्थिति में हमें कुछ विशेष महत्व की सहायता नहीं दे सकते। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में धर्म की उपयोगिता जन साधारण के जीवन को अधिक उन्नत एवं पूर्ण बनाने में नहीं, वरन् कोरे ज्ञान-दाम्भिकों तथा पुजारियों के लिये एक सुन्दर भविष्य निर्माण करने में है। हम सब उस मनोवृत्ति से भलीभांति परिचित हैं जिसका प्रयोग विशेषाधिकारों का समर्थन करने में किया जाता है। इस समर्थन में वाह्यतः उचित प्रतीत होने वाली युक्तियाँ प्रयुक्त

होती हैं तथा विशिष्ट स्वत्वों की रक्षा प्रबल स्वार्थ-भावना के द्वारा की जाती है। यह मनोवृत्ति स्वयं अपने को इस धोखे में डाले रहती है कि जिसे आलोचक 'विशेषाधिकार' कहते हैं वह तो 'निसर्ग-नियम' है और न्याय का अनुरोध है कि 'प्राकृतिक पक्षपातों' का समर्थन किया जाय। उत्तर भारत की कठिनाइयाँ इससे भिन्न मनोवृत्ति का परिणाम हैं। वह मनोवृत्ति कुछ ऐसा प्रयास करती है जिससे उसके अपने ही सिद्धान्त सर्वमान्य समझे जांय। सर्वमान्यता का पुजारी अपनी इष्टसिद्धि के लिये सब कुछ कर सकता है—मार्ग में पड़ने वाली किसी बाधा को, किसी अवरोध को, वह रहने नहीं देता। आवेश में आने पर वह अत्याचार एवं हिंसा की भी सहायता लेता है। किसी भी जाति के सभी व्यक्तियों को एक ही साँचे में ढालना तथा उन्हें एक ही केन्द्रीय शक्ति अथवा साम्प्रदायिक मत में अन्धविश्वासी बनाना 'प्रशा' की पद्धति कही जाती है। पर 'प्रशा-निवासियों' की ही वह कुछ बपौती नहीं है। सर्वमान्यता निरंकुश शासकों का स्वप्न—उनका शासन-क्षेत्र चाहे राजनीतिक हो चाहे धार्मिक—सदा ही रहा है। विश्वविद्यालय का आदर्श मानसिक अथवा बौद्धिक स्वातंत्र्य है। उसकी ममता न तो विशेषाधिकारों की रक्षा में है और न किसी सिद्धान्त-विशेष को सर्वमान्य बनाने में। वह तो उन सभी विशेषाधिकारों का विरोधी है जो बौद्धिक उन्नता अथवा आध्यात्मिक महत्ता से दूर हैं। वह सर्वमान्यता का भी विरोध करता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार

है कि वह अपने विचारों तथा सिद्धान्तों को स्वतंत्रतापूर्वक विकसित करे। विचारशील व्यक्तियों का समाज होने के कारण विश्वविद्यालय स्वतंत्रता का मन्दिर है। उस मनोवृत्ति की शक्ति एवं सत्ता, जो स्वतंत्रता की बाधक तथा विशेषाधिकार अथवा सर्वमान्यता की साधक है; धार्मिक तथा साम्प्रदायिक कट्टरता की पोषक है। विश्वविद्यालय का कर्त्तव्य है कि ऐसी मनोवृत्ति का दमन करे तथा अपने युग के विचार एवं स्वभाव को एक नवीन रूप दे।

मानवता का इतिहास दो प्रमुख मूलप्रवृत्तियों के निरन्तर संघर्ष का इतिहास है; रक्षणवृत्ति तथा विकास वृत्ति। रक्षणवृत्ति हमारे प्राचीनता-प्रेम में प्रकाशित होती है जो अपने अतीत से ममता पूर्वक चिपटी रहना चाहती है, घूम फिर कर अपने में ही वापस आजाना चाहती है, एवं उसी परिधि के भीतर एक अशिथिल बंधन में बँधी रहना चाहती है। विकासवृत्ति जीवन की हलचल में प्रकाशित होती है—उस आकांक्षा में जो समस्त मार्गावरोध को ध्वस्त कर अपना अबाधित विस्तार कर लेना चाहती है। प्रत्येक विस्तार-युग के पश्चात् एक संकोच-युग आता है तथा प्रत्येक संकोचन के पश्चात् विस्तार। वैदिक ऋषियों का युग शक्ति एवं स्फूर्ति का युग था, जब भारत ने अपने अमर विचारों की घोषणा की थी। महाभारत में जीवन की उथल पुथल, उसकी व्यस्तता एवं व्यग्रता का बड़ा ही मनोहारी चित्रण है, स्वतंत्र जिज्ञासा तथा प्रयोगों से ओतप्रोत। अपरिचित,

नवीन जातियों से देश आक्रान्त था। महाभारत के वर्णन से विदित होता है कि हमारी संस्कृति इतनी सबल थी कि उसने उन नवीन शक्तियों को भी, जो उसका विनाश करने आई थीं, अनुप्राणित किया। हमारी प्राचीन समाज-व्यवस्था ने घातक नूतन व्यवस्था को आत्मसात् कर लिया। भगवान् बुद्ध के समय में तो देश में एक भूकम्प सा ही आगया था। विचार-स्वातंत्र्य की जो लहर उस समय उठी उसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को अनेक प्रकार की रचनात्मक कृतियों से भर दिया तथा अपनी शक्ति की गुरुता से समग्र एशिया-खण्ड को आप्लावित कर दिया। महान् सेनानी चन्द्रगुप्त ने तो प्रायः एक सुविस्तृत महाद्वीप को एकता के सूत्र में गुम्फित कर दिया था। अमरकीर्ति अशोक ने बौद्ध प्रचारकों को मिश्र तथा सिरिया, साइरीन तथा इपीरस, तक भेजा था। कुछ ही दिनों में भारतवर्ष जापान तथा चीन की, ब्रह्मा तथा लंका की, आध्यात्मिक जन्मभूमि बन गया। गुप्तों एवं वर्धनों के शासनकाल में अत्यधिक सांस्कृतिक विकास हुआ। जिन व्यक्तियों ने ठोस चट्टानों को काट छांट कर अपने लिए गुफाएँ तथा अपने देवताओं के लिए उन मन्दिरों का निर्माण किया जो आज भी जगत् की कुतूहलपूर्ण-प्रशंसा का विषय बने हुये हैं वे, निश्चय ही, पर्य्याप्त आत्मिकबल के स्वामी रहे होंगे। कुछ समय के बाद इस सृजन-शक्ति का अवसान हो गया। तेजपूर्ण जीवन, आवेश युक्त उत्साह तथा दृढ़विश्वास के स्थान में मौलिक-विचार-विहीन आचार्य्य, कम ऊँचे आदर्श तथा

प्राचीन प्रथाओं का शुष्क पालन मात्रशेष रह गया। लोगों को भय होने लगा कि कहीं सर्व-सम्मत-सिद्धान्तों की सुरक्षित-सीमा का उल्लंघन हम न कर जाँय। ऐसा प्रतीत होने लगा कि देश जैसे श्रान्त, शिथिल हो गया हो, जैसे ज्वार के उपरान्त भाटा अपनी पूर्णता को पहुंच गया हो। आज-कल हम एक ऐसे युग में होकर गुज़र रहे हैं जब मानव-समाज प्रतिक्रिया की शक्तियों की ठोकरें खाकर आगे की ओर नये वेग से पग बढ़ाने ही को है। चारों ओर दम घुटने की सी हालत है। प्रतिबन्ध की दीवालों को खोद गिराने की आवश्यकता की अनुभूति हम करते हैं जिससे हम स्वतंत्रतापूर्वक सांस ले सकें तथा खुले हुये विस्तृत आकाश को आँख भर के देख सकें।

यदि आन्ध्र विश्वविद्यालय को उस क्रान्ति में भाग लेना है जिसे भारतीय नव-जागृति का नाम दिया जा सकता है तो इसे भारत के अतीत के अध्ययन की ओर समुचित ध्यान देना होगा। हमारा देश कोई ऐसा बालुका-निर्मित समुद्र-तट तो नहीं है जो हाल ही में ज़मीन के डोलने से निकल पड़ा हो। वह तो एक महान् विकास का परिणाम है तथा उसकी जड़ें शताब्दियों की गहराई तक पहुँची हुई हैं। राष्ट्रों का जैसे भूगोल होता है वैसे ही उनका इतिहास भी होता है। उनकी उत्पत्ति तथा वृद्धि आँधी-पानी अथवा सूर्य्य-तारागणों की शक्ति से नहीं वरन् उन वासनाओं एवं आदर्शों से होती है जो उन्हें अनुप्राणित किया करते हैं। विश्व-विद्यालय को हमारी संस्कृति के मूल-स्रोत,

उसके विचार एवं कला; उसके दर्शन एवं धर्म; के प्रति अवश्य ही उत्सुकता जाग्रत करनी होगी। जिस किसी ने भी इस देश के सुन्दर ग्रन्थों का अध्ययन किया होगा वही उनकी अद्भुत महत्ता को, उनके नवीन नवीन अर्थों को प्रगट कर सकने की शक्ति को, तथा वर्तमान जीवन-व्यवस्था का मूल्य निर्धारित करने में माप-दण्ड बन सकने की योग्यता को प्रमाणित करेगा। आश्चर्य-जनक वैज्ञानिक उन्नति के इस युग में यह कहना कदाचित् व्यर्थ न होगा कि विस्मृति-गर्त में पड़े अतीत को फिर से एक बार समझाने का प्रयास, मनुष्य के लिए, नक्षत्रों की गतिविधि निर्धारित करने अथवा आकाश में वायुयानों को संचलित करने से कुछ कम महत्व का कार्य नहीं है।

भारतीय संस्कृति के प्रति अनुराग जाग्रत करने के हमारे आग्रह का यह अर्थ कदापि नहीं है कि हमें फिर सुदूर अतीत की परिस्थिति में लौट जाना चाहिये। भूत कभी लौटता नहीं। १५ वीं, १६ वीं शताब्दी की योरोपीय जागृति में रोम, ग्रीस तथा प्राचीन ईसाई धर्म के प्रति एक नवीन अभिरुचि जाग पड़ी थी। उसी से अर्वाचीन योरोपीय सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ। अतएव मेरा विश्वास है कि अपने अतीत का अध्ययन हमारे सांस्कृतिक जीवन में नव-स्फूर्ति का संचार करेगा तथा शुष्क ज्ञानवाद को पराभूत कर देगा।

अपने देश के अतीत के अध्ययन में एक भारी खतरा है जिससे हमें सावधान रहना होगा। हम उस युग में

महान् वस्तुओं की खोज करना चाहते हैं क्योंकि उसे प्रायः शान्ति एवं समृद्धि का स्वर्ण-काल समझा जाता है। कहा जाता है तब पुरुष शताब्दियों तक जीवित रहते थे, देव-कुमारियों से विवाह-सम्बन्ध करते थे तथा वे देवताओं का मनोरंजन विविध प्रकार से किया करते थे। किसी देश के अतीत की ओर जितना ही अधिक हम बढ़ते हैं निर्बाध कल्पना का आकर्षण हमारे लिये उतना ही अधिक प्रबल होता जाता है। इतिहास के सच्चे विवेचक के लिये यह एक सूक्ष्म भय है। यदि वह अपने विचारों को सुलझे हुये रूप में उपस्थित करना चाहता है तो उसे उन सामान्य सिद्धान्तों को सदा ही दृष्टि के सम्मुख रखना होगा जो प्रसंग-प्राप्त विषयों की अनेकता में एकता का दर्शन करते हैं। इस एकता के वास्तविक दर्शन में तथा अपने दिमाग़ से निकाले किसी भी सिद्धान्त को सत्य कहकर प्रचार करने में बहुत थोड़ा अन्तर होता है। हमें सतत सजग रह कर इस बात का ध्यान रखना होगा कि किसी भी विषय को उसकी योग्यता से अधिक मूल्य अथवा गौरव हम न दे जाँय। भविष्य के अपने स्वप्न को अधिक महत्वपूर्ण बनाने की कामना से अतीत को विकृत करना महान् बौद्धिक पाप है। यदि भारत के अतीत का वैज्ञानिक अध्ययन कहीं सम्भव हो सकता है तो वह केवल विश्वविद्यालय के वातावरण में ही हो सकता है।

देश के विभिन्न मतों एवं संस्थाओं के सूक्ष्म, विवेचनात्मक अध्ययन का महत्व केवल मात्र विवेकपूर्ण कुतूहल

को सन्तोष देने तथा विद्वानों के अन्वेषणों के लिये आवश्यक उपकरणों का संग्रह कर देने से कहीं अधिक है। वह तो उत्थान का एक प्रबल साधन है। इतिहास एक स्वच्छ दर्पण है जिसमें हम अपने आपको प्रतिबिम्बित देख सकते हैं। साधारण दर्पण की भांति वह केवल हमारे वाह्यरूप का ही दर्शन नहीं कराता वरन हमारे हृदय के स्पष्ट नग्न स्वरूप को भी हमारे सम्मुख ला उपस्थित करता है। उसमें हम अपनी शक्ति के ही साथ अपनी दुर्बलताओं को भी देख सकते हैं। जीवन, विकास, तथा स्वास्थ्य के साथ ही हम उन बीमारियों का दर्शन भी कर सकते हैं जिनके हम शिकार हैं। इस बात का पता भी लग सकता है कि चार हज़ार वर्ष पुरानी सभ्यता की सन्तान हम आज अर्द्ध जीवित ही क्यों हैं। हम ज़िन्दा हैं भी और नहीं भी। ऐसा क्यों ? स्वास्थ्य एवं शक्ति की पुनः प्राप्ति के लिए हमें अपनी राष्ट्रीय दुर्बलताओं पर विजय पाना होगा। हमें उन संस्थाओं को खोज निकालना होगा जिनकी उपयोगितावधि यद्यपि कभी की बीत चुकी है किन्तु जो मानसिक आलस्य, स्वभाव अथवा स्वभाव के समान बन गये विश्वासों के परिवर्तन में आदमियों की अरुचि के कारण अब भी हमारे बीच मौजूद हैं। अनुदार मस्तिष्क तथा कला-प्रिय व्यक्ति के लिये उन सिद्धान्तों के मूल पर आघात करना वैसा ही अप्रीतिकर व्यापार है जैसा उस सुदृढ़ मन्दिर पर आघात करना जिसमें चिरकाल से जनता के एक बहुत बड़े भाग ने अपनी आकांक्षाओं को जीवन के कठोर घात-

प्रतिघातों से बचाकर रख छोड़ा था। शारीरिक आदत का ही छोड़ना कठिन होता है, चिराभ्यासजन्य मानसिक संस्कारों का परित्याग तो और भी दुष्कर है। फिर भी मैं आशा करता हूँ कि विश्राम-प्रेम, अतीत-भक्ति अथवा खतरे से बचने की इच्छा निष्प्राण प्राचीन रीतियों को बचाये रखने में हमारी ममत्वबुद्धि को न जाग्रत् कर सकेंगी। दूषित प्रथाओं को केवल सौन्दर्य्य के अनुरोध से बचाये रखना सच्चा प्राचीनता-प्रेम नहीं, थोथी भावुकता है। हमें सत्य मार्ग का अवलम्बन करना चाहिये, उसका फल कुछ भी हो, वह हमें चाहे जिस ओर लेजाय। केवल सत्य ही हमारा पथ-दर्शक नक्षत्र है। सत्याश्रयहीन मृतप्राय प्रथाओं को अतीत-गौरव एवं श्रद्धास्पदता के नाम पर जीवित रखना, उस रोगी के कष्ट की अवधि को बढ़ाना है जो सड़े-गले अतीत के विष से पीड़ित है। हमें परिवर्तन से घबराना नहीं चाहिये। हमारा दर्शन कहता है कि नित्य केवल भगवान है, जीवन तो नित्य परिवर्तनशील है।

किसी राष्ट्र का बन्द मकान के भीतर शान्त निर्विकार भाव से बैठे रहना ऐसी दशा में सम्भव नहीं जब समस्त मानवसमाज आगे बढ़ रहा है। आज का संसार अनोखे तथा असम्बद्ध स्थानों का क्रमहीन संग्रह नहीं है जहाँ एकान्त जीवन विताया जा सके। अब वह एक छोटा सा पड़ोस बन गया है जिसमें न तो हम अकेले रहना ही पसन्द करेंगे और न, चाहने पर भी, हमें अकेले रहने दिया

जायगा। अब हम मध्य-कालीन सुदृढ़-प्राचीर-वेष्टित नगरों की ओर नहीं लौट सकते। नूतन विचारों की एक बाढ़ सी आगई है। उसे हम किसी प्रकार रोक नहीं सकते। इन नवीन शक्तियों के प्रति हमारी क्या प्रतिक्रिया होनी चाहिये इस सम्बन्ध के हमारे विचारों में काफी गड़बड़ी है। स्वशक्ति-प्रकाशन की इच्छा तथा भीरुता का अजीब सम्मिश्रण दृष्टिगोचर हो रहा है। प्रत्येक भारतीय वस्तु के प्रति जहाँ एक ओर हमारे हृदय में दृढ़भक्ति है वहाँ दूसरी ओर अप्रकट किन्तु गम्भीर सन्देह भी छिपा हुआ है। अनुदार व्यक्तियों ने निष्फल प्रतिरोध का निश्चय सा कर लिया है। वे प्राचीन सिद्धान्तों से बुरी तरह चिपटे हुये हैं। उन्हें नहीं मालूम कि वे शक्तियाँ आभ्यन्तरिक विस्फोट का सृजन करके हमारी रक्षा-प्राचीर के दुर्बल स्थलों को धूलिसात् कर देंगी। दूसरी ओर क्रान्तिवादी अतीत को बिल्कुल भुला देना चाहते हैं। उनके लिये, अतीत की स्मृति गौरव का नहीं लज्जा का विषय है। वे इस बात को भूल जाते हैं कि अन्य संस्कृतियाँ तो हमें प्रकाशदान ही करेंगी; अपनी संस्कृति कर्म के लिये, व्यवहार के लिये, उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करेगी। अतीत का रचनात्मक-प्राचीनता-प्रेम प्रतिक्रियावाद एवं क्रान्तिवाद के बीच का मार्ग है। यदि हम पाँच हजार वर्ष पूर्व की सिन्धुतटीय सभ्यता से आरम्भ करके आधुनिक युग तक की भारतीय संस्कृति के इतिहास का अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि इस लम्बे विकास-काल में इसकी एक विशेषता रही है और वह है परिवर्तन-

शीलता एवं नूतन-आवश्यकताओं की अनुभूति-क्षमता। कभी कभी मूर्खता की सीमा तक जा पहुँचने वाली महती उदारता के साथ इसने अन्य मतों एवं सिद्धान्तों में भी सत्य का अस्तित्व स्वीकार किया है। ऐसा कभी नहीं हुआ कि मिथ्याभिमान के कारण इसने दूसरों से शिक्षा ग्रहण करने में आनाकानी की हो तथा स्वानुकूल सिद्धान्तों को न अपनाया हो। यदि हम इस मनोवृत्ति को बनाये रख सकें तो कहीं अधिक शक्ति एवं विश्वास के साथ हम भविष्य का मुक़ाबिला कर सकेंगे।

बहुत ज़रूरी है कि हम अपने पुराने ज्ञान को पूर्णता तथा गम्भीरता के साथ पुनः प्राप्त करें, वर्तमान परिस्थिति के अनुरूप उसे बनायें तथा आधुनिक समस्याओं का, भारतीय दृष्टिकोण से, मौलिक समाधान करें। यदि हमारे विश्वविद्यालय इस भार को ग्रहण न करेंगे तो कौन करेगा? मुझे आशा है कि आन्ध्र विश्वविद्यालय के शिक्षणीय विषयों में भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि कलात्मक, साहित्यिक तथा ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर लिखित आन्ध्र लोगों के सच्चे इतिहास को संसार के सामने रखना इसका विशेष कर्त्तव्य होगा। इस कार्य में संस्कृत-साहित्य, पुराण तथा महाकाव्य बहुमूल्य सहायता दे सकेंगे। मुझे आशा है कि यह विश्वविद्यालय किसी न किसी प्राचीन भाषा का थोड़ा बहुत अध्ययन, 'कला' भाग के छात्रों के लिये, अवश्य ही अनिवार्य कर देगा।

हमारा युग महान् प्रयास तथा रचनात्मक क्रियाशीलता का युग है। यदि हमें बौद्धिक शक्ति का दावा है तो यह कहना हमें शोभा नहीं देता कि दूसरे लोग प्रयोग करें, हम भी उनकी सफलता से लाभ पावेंगे ही। यह धारणा कि हमारी मनोवृत्ति दार्शनिक है एवं वैज्ञानिक गवेषणा में हमारा अनुराग नहीं, सत्य नहीं है। अपने उन्नतिकाल में हमने ज्योतिष् तथा गृह-निर्माण-कला, गणित तथा आरोग्य-शास्त्र, रसायन शास्त्र तथा धातु-विज्ञान को जन्म दिया था। कालान्तर में विवेकवाद के दुष्ट प्रभाव के कारण वैज्ञानिक गवेषणा की गति कुछ मन्द पड़ गई। उस वैज्ञानिक निद्रा से जाग पड़ने के लक्षण अब चारों ओर दिखाई देने लगे हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय की सर्वोच्च श्रेणियों में जो कार्य हो रहा है उससे स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि हम लोग उच्चकोटि के मौलिक कार्य करने की क्षमता रखते हैं. केवल हमें अवसर मिलना चाहिए। यदि हमें फिर से जग-जीवन की मुख्य धारा में प्रवाहित होना है तो विश्व विद्यालयों को प्रयोगशालाओं का निर्माण करके मौलिक गवेषणा में लगे प्रखर-बुद्धि छात्रों के लिये उचित वातावरण की सृष्टि करनी होगी।

मुझे आशा है कि विज्ञान की विजय को मानवदशा के सुधार का आधिभौतिक मार्ग बताकर उपहास करने वालों की संख्या अधिक नहीं है। दरिद्रता तथा बीमारी या आदमी के द्वारा खींची जाने वाली रिकशा की मौजूदगी ही आध्यात्मिक सभ्यता का लक्षण नहीं है। यह

कहना कि ज्ञान का मूल्य रत्नों की अपेक्षा अधिक है एवं ज्ञानी प्रत्येक परिस्थिति में सुखी रहता है एक बात है; घोर दरिद्रता एवं अस्वास्थ्य को आध्यात्मिक उन्नति का अनिवार्य साधन बताना बिलकुल दूसरी। विरागजात दरिद्रता का यद्यपि आध्यात्मिक मूल्य है, पर हमारी घृणित दरिद्रता तो असफलता एवं आलस्य की परिचायिका है। हमारे जीवन-दर्शन में सम्पत्ति के उत्पादन तथा वृद्धि को मानव-प्रयत्न का न्यायसंगत उद्देश्य माना गया है। धनोपार्जन कुछ स्वयमेव आध्यात्मिक अधःपतन का कारण नहीं है। वह तो धर्म्माधर्म व्यतिरिक्त, पापपुण्य विरहित, व्यक्ति एवं समस्त मानवसमाज के उच्च जीवन की प्राप्ति का साधन है। मुख्य वस्तु तो वह उद्देश्य है जिसे पूर्ण करने लिये हम सम्पत्ति की कामना करते हैं। जब तक हमारी यह निश्चित बुद्धि रहती है कि अर्थ उच्च जीवन का साधन मात्र है तब तक निर्भीकतापूर्वक हम प्रकृति के गुप्त रहस्यों का उद्घाटन करके उन्हें मानव-सेवा में नियोजित करने में तत्पर रह सकते हैं। अनेक ऐसी बुराइयाँ हैं जो मनुष्य के लिए स्वाभाविक हैं। और जिनका सामना अकर्मण्य रह कर भाग्य की दुहाई देते रहने से ही नहीं किया जा सकता। दुर्भाग्य को भगवान् का उचित निर्णय मानकर दुःख कष्ट झेलते रहने की अपेक्षा उन्हें परिक्षीण करते रहकर अन्ततः उनका एकान्त विनाश करना ही ऊँची श्रेणी का कर्तव्य है।

आर्थिक क्रान्तियाँ धीरे धीरे होती हैं, नाटकीय कथा-वस्तु की भाँति अकस्मात् नहीं। चूँकि भारतीयों की एक

बहुत बड़ी संख्या की दारिद्र-सीमा की हम कल्पना भी नहीं कर सकते इसलिए हमारे हृदयों में उनके प्रति समवेदना भी नहीं के बराबर है। हमारे देश में भौतिक सुख का औसत बहुत कम है। दरिद्रता का सर्वतः प्रसार होने से लोग अवर्णनीय दुःख भोग रहे हैं यद्यपि इसमें उन बेचारों का विशेष दोष नहीं है। मध्यम-वर्ग के लोगों की बेकारी दिन पर दिन बढ़ रही है। वे औद्योगिक तथा व्यावसायिक धन्धे जिनमें अन्य देशों के शिक्षित युवक खप जाते हैं, भारत में प्रायः नहीं के बराबर हैं। पाँच से लेकर बीस वर्ष की आयु हमारे युवक शिक्षा-संस्थाओं में व्यतीत करते हैं। और वे इतने व्यर्थश्रम तथा अर्थव्यय के बाद, न्यायालय के भीतर अथवा बाहर, अपने को व्यवसायहीन पाते हैं। ऐसे देश के लिए जिसके अभाव इतने अधिक हों मानवशक्ति का यह कितना दुखद अपव्यय है! भूमि तथा उसकी शक्तियाँ प्रचुर हैं, धनोत्पादन-समर्थ पुरुषों की संख्या भी काफी है, फिर भी सब व्यापारहीन दशा में पड़े हुए हैं। यह कहना अनुचित है कि भारतवासी दार्शनिक हैं, व्यावहारिक नहीं और इसीलिए उद्योग-धन्धों के प्रति उनकी रुचि नहीं। हमारी चित्तवृत्ति में कोई दोष नहीं। औद्योगिक क्रान्ति के समय भारत तथा योरप की दशा प्रायः एक सी ही थी। कृषिपद्धति, आर्थिक संस्थायें, औद्योगिक विकास तथा भूस्वामि-कृषक-सम्बन्ध भारत और योरप में प्रायः समान थे। अन्तर केवल इतना ही है कि हम अब भी अधिकांशतः मध्यकालीन कृषि-पद्धति तथा 'उद्योग'-पूर्व की अवस्था में पड़े

हैं। परम खेद का विषय है कि दीर्घकालीन राजनीतिक तथा आर्थिक साहचर्य्य के पश्चात् भी इंगलैंड ने हमें जीवन तथा कार्य में प्रोत्साहित नहीं किया। आशा थी कि ब्रिटेन के इस सम्पर्क के फलस्वरूप हम अपने पूर्वीय प्रतिद्वन्द्वियों को विकास की घुड़दौड़ में पछाड़ देंगे। किन्तु वैसा नहीं हुआ। साहित्यिक अंग को विशेष महत्व देने वाली शिक्षा-नीति ने, स्वल्पव्यय-साध्य होने के कारण, कुछ व्यवसायों को झूठा गौरव दिया तथा दूसरों के प्रति उदासीनता जागरित की। हाथ में कलम लेकर दूकान के आय-व्यय का हिसाब रखना खेत अथवा मिल में काम करने की अपेक्षा अधिक सम्मान का कार्य्य नहीं है। जो थोड़ा बहुत औद्योगिक विकास हुआ है वह सब अंगरेज कम्पनियों की अधीनता में ही हुआ है जिन्हें अभी तक यह बुद्धि नहीं आई कि विदेशी विशेषज्ञों के बल पर हमेशा उनका काम न चल सकेगा। यदि वे भारतीय युवकों को अपने यहाँ रखें, उन्हें आवश्यक अभ्यास दिलवायें तथा अन्य प्रकार की सुविधायें दें तो इसमें हमारे साथ उनका भी लाभ हो। कदाचित् ब्रिटिश कम्पनियों से इतनी उदारता की आशा करना युक्तिसंगत नहीं। श्री "पैडन" महोदय ने १९२६-२७ की भारतीय स्टोर्स विभाग की रिपोर्ट में भारतीय छात्रों को शिल्प तथा उद्योग की विभिन्न शाखाओं में क्रियात्मक शिक्षा एवं सुविधादान के विषय में लिखा था—'छात्रों की बहुत बड़ी संख्या में से प्रत्येक को उसकी इच्छित दिशा में औद्योगिक शिक्षा देने का प्रबन्ध करना एक विषम तथा

कठोर समस्या है विशेषतः आजकल जब बाज़ार गिरता जा रहा है एवं मजदूर-आंदोलन के फलस्वरूप उत्पादन कम परिमाण में ही हो सका है। अर्ध या उससे भी कम समय काम करने वाले मिल भी, साधारणतया, उस व्यक्ति की शिक्षा का प्रबन्ध नहीं करना चाहते जिसका ज्ञान तथा अनुभव, किसी भी समय, प्रतिद्वन्द्वी संस्थाओं के उपयोग में लाया जा सके। कुछ व्यवसायों में समस्या की जटिलता इसलिए भी बढ़ जाती है कि विभाग की मांग का बहुत बड़ा भाग महाद्वीप भेज दिया जाता है: दूसरे विभागों में खास खास उत्पादन-विधियों को व्याव-सायिक रहस्य कहकर, ईर्ष्यापूर्वक, सुरक्षित रखा जाता है।" इस मनोवृत्ति का आर्थिक महत्व तो सरलतापूर्वक समझ में आजाता है पर इसकी नैतिकता समझ में नहीं आती। भारत में सूती वस्त्रों का उत्पादन जितना ही अधिक होगा लंकाशायर के माल की खपत उतनी ही कम हो जायगी। यदि ब्रिटेन को ऐसे उद्योग को प्रोत्साहित करके उसके विकास में सहायता देना है जो उसके निजी व्यापार का प्रतिद्वन्द्वी बन सके तो उसे अधिक ऊँचे स्तर के आदर्शों का पालन करना आवश्यक हो जायगा। संकीर्ण दृष्टिकोण तथा अर्थहीन कानूनी बहस में पड़ कर उसने ऐसी खतरनाक नीति को अपनाया है जिसे उद्देशहीन प्रवाह का नाम देना चाहिए। हमें बहुत बड़ी आशा है कि सरकार अपने को सर्वोपरि पुलिस कर्मचारी समझ कर, जिसके ऊपर न्याय एवं व्यवस्था की रक्षा का दायित्व है, अपनी

संकुचित दृष्टि का परित्याग करेगी तथा अधिक उदार भावना के साथ देश के उद्योग-व्यवसाय की वृद्धि करेगी और भारत के अपने पैरों पर खड़े हो सकने में सहायक सिद्ध होगी। व्यक्तिगत औद्योगिक प्रयास के अभाव का बहाना बना कर निन्दा करना उचित नहीं क्योंकि देश में बहुत कुछ 'राष्ट्र समाज वाद' का प्रचार है। औद्योगिक विकास का विश्वविद्यालय से सीधा सम्बन्ध नहीं है। औद्योगिक शिक्षा को उद्योग-धन्धों की सृष्टि पर निर्भर रहना होगा और यह विश्वविद्यालय के हाथ की बात नहीं है। परन्तु फिर भी शासन की सदाशयता तथा सहयोग से, यह विश्वविद्यालय ऐसे नवीन औद्योगिक पाठ्य विषयों की अवतारणा करके, जिनका सम्बन्ध भारतीय उद्योग-धन्धों से साधारणतया तथा आन्ध्रप्रान्तीय धन्धोंसे मुख्यतया होगा, देश के औद्योगिक विकास में सहायक हो सकता है।

आन्ध्र विश्वविद्यालय का जन्म केवल-मात्र परीक्षा लेने वाले विश्वविद्यालयों के दोषों की अनुभूति का परिणाम है। इसका उद्देश कला तथा विज्ञान-विभाग में सर्वोच्च शिक्षण-व्यवस्था तथा औद्योगिक शिक्षा-संस्थाओं का स्थापित करना, है। लगभग ७० वर्ष पूर्व आरम्भ होनेवाला मद्रास विश्वविद्यालय न केवल राष्ट्र को योग्य तथा विश्वासपात्र सेवक ही देने में सफल हुआ है प्रत्युत उसने कला तथा विज्ञान के सुप्रतिष्ठित विद्वानों की भी सृष्टि की है। आज उसी की कृपा से दक्षिण भारत के प्रत्येक क्षेत्र में नूतन जीवन दिखाई पड़ता है। उसकी विशालता तथा परीक्षा-सम्बन्धी

स्वीकृति देने के नियम ने उसकी उपयोगिता को अवश्य ही कुछ सीमित कर दिया है। संसार भर के विद्वानों का मत केवल मात्र परीक्षा लेने वाली अथवा स्वीकृति देने वाली संस्थाओं के विरुद्ध है। विश्व विद्यालयों का मुख्य कर्त्तव्य उपाधि-वितरण नहीं; विश्वविद्यालय-संस्कृति तथा पाण्डित्य का विकास करना है। उक्त संस्कृति सामुदायिक जीवन के बिना तथा पाण्डित्य-वर्द्धन उच्च कक्षाओं के बिना सम्भव नहीं।

यद्यपि छात्रगण अधिकतर विश्वविद्यालय में उपयोगिता की दृष्टि से आते हैं; संस्कृति के उद्देश से नहीं; फिर भी जब एक बार वे आजाते हैं तो अपने को ऐसे व्यक्तियों के समाज में पाते हैं जिनका लक्ष्य शुद्ध जिज्ञासा से प्रेरित ज्ञानार्जन है। यह प्राचीन भारत के गुरुकुल-वास के आदर्श का ही विशद रूप है। विश्वविद्यालय कोई व्याख्यानशाला नहीं है जहाँ अध्यापक नियमित रूप से विद्यार्थियों को पाठ पढ़ाये वरन् वह ऐसा वातावरण है जहाँ नई पीढ़ी को सर्व प्रथम आत्मज्ञान होता है; जहाँ कभी कभी किसी के कमरे में बैठ कर शास्त्रचर्चा करने के फलस्वरूप जीवन-व्यापी यश प्राप्त किया जा सकता है।...

मेरी इस सिद्धान्त के साथ कोई सहानुभूति नहीं कि विज्ञान-विकास तथा कला-विकास के केन्द्र भिन्न भिन्न हों। विशुद्ध कला तथा विज्ञान पारस्परिक पूरक, दोष विनाशक तथा साम्य-विधायक हैं। इंगलैण्ड तथा अमेरिका की साम्प्रतिक घटनाओं ने धर्म एवं दर्शन में वैज्ञानिक विकास के महत्वपूर्ण स्थान को स्पष्ट कर दिया है। लार्ड हैल्डेन

ने ब्रिस्टल में "नागरिक विश्वविद्यालय" नाम के भाषण में कहा है:-"आप विज्ञान का साहित्य तथा दर्शन से विच्छेद प्रत्येक को अंशतः भूखों मारे विना नहीं कर सकते। उनमें से प्रत्येक का समुचित विकास दूसरे के सान्निध्य में ही सम्भव है।" प्रायोगिक मनोविज्ञान तथा मानव-विज्ञान का कला एवं विज्ञान दोनों से ही निकट सम्बन्ध है। अभी कल की बात है जब हमने अपने कलकत्ता के दर्शन-छात्रों को आइनस्टीन की "तुलनात्मकता" (relativity) के सिद्धान्तों का परिज्ञान कराने के लिए एक भौतिक-शास्त्र के लब्धप्रतिष्ठ अध्यापक को आमंत्रित किया था। ऐसे विश्वविद्यालय में रहने से जहाँ सभी विषयों की शिक्षा दी जाती है विद्यार्थियों को अवश्य लाभ होगा भले ही उन में से प्रत्येक कुछ ही विषयों का अध्ययन करे। विशेषज्ञता के इस युगमें किसी के लिए एक विशिष्ट विषय के सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति दूसरे विषयों की उपेक्षा बिना किये सम्भव नहीं। विश्वविद्यालय का वह जीवन ही, जहाँ विविध प्रकार के ज्ञानों को उपार्जित करने वाले छात्र मिलकर बौद्धिक एवं सामाजिक विचार-विनिमय करते हैं, विशेषज्ञताजनित दोषों के निराकरण का मार्ग है।

विश्व-विद्यालय-शिक्षा की सार्थकता ज्ञान के अर्जन में नहीं, वैज्ञानिक स्वभाव के सृजन में होती है। विद्यार्थी को मत और सिद्धान्त, वास्तविकता एवं कल्पना के अन्तर का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिये, उसमें प्राप्त-सामग्री की छान-बीन करके सत्य खोज लेने की क्षमता होनी चाहिये, तथा होनी

चाहिये वह शक्ति जिसके द्वारा वह अपने विरोधियों के मत की न्यायपूर्वक समीक्षा कर सके। गवेषणाबुद्धि इसी स्वतंत्र अनुसंधान तथा विवेकशीलता को कार्यान्वित करने का नाम है। विश्वविद्यालय की अपने इस मुख्य लक्ष्य में सफलता अथवा असफलता उसके अध्यापक-वर्ग पर निर्भर है। अध्यापक ही वातावरण की सृष्टि करते हैं। अतः उनके निर्वाचन में बड़ी से बड़ी सावधानी भी कम ही है। अध्यापकों की नियुक्ति में उनकी विद्वत्ता तथा मौलिक गवेषणा को छोड़ कर और किसी भी बात से हमें प्रभावित नहीं होना चाहिये, क्योंकि जिसकी अनुसंधान में अनुरक्ति नहीं, उसका शिक्षण में उत्साह कैसे होगा।...

आन्ध्र विश्वविद्यालय के स्नातको, आपके विश्वविद्यालय का सिद्धान्त-वाक्य उपनिषद् का महान वचन है "तेजस्विनावधीतमस्तु।"—भगवान से प्रार्थना है कि हमारे विद्याभ्यास का फल आन्तरिक प्रकाश अथवा तेजस् हो। ईश्वर करे कि हमारी विद्या हमें वह वीर्य्य दे जो हमारी आत्मा को प्रयत्नशील बनने में प्रोत्साहित करे। यदि आपने वास्तव में शिक्षा पाई है तो आप को सत्य-दर्शन के लिये प्रकाश एवं उसके प्रचार के लिये शक्ति अवश्य मिलेगी। आज के युवक-युवतियों को अपनी योग्यता प्रकट करने लिये पहले की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ प्राप्त हैं। मेरा विश्वास है आप में से प्रत्येक उस दिन का स्वप्न देख रहा है जब भारत स्वतंत्र होगा। पर क्या आपने कभी यह भी सोचा है कि इस आदर्श की प्राप्ति के लिये किन परिस्थितियों को उत्पन्न करना

आवश्यक होगा ? हमारे नेताओं का मत कुछ ऐसा मालूम पड़ता है कि राज्य-व्यवस्था के परिवर्तन मात्र से ही सब कुछ ठीक हो जायगा। कुछ का विश्वास है कि हम अपने शासकों को समझा बुझाकर राज़ी कर लेंगे, तथा कुछ दूसरों का, जो अपने को अधिक आगे बढ़ा हुआ मानते हैं, कहना है कि धमकी देकर तथा शोरगुल मचाकर ही हम उन्हें अपनी मांग स्वीकार करने पर बाध्य कर सकेंगे। पर ऐसे चमत्कारों से स्वर्णयुग की स्थापना असम्भव है। केवल चिल्लाने से स्वराज नहीं मिल सकता। कोरी बातें करके हम स्वराज्य नहीं प्राप्त कर .सकते। कोई जाति किसी दूसरी जाति को उसकी मरज़ी के खिलाफ़ अपना गुलाम बनाकर नहीं रख सकती, यदि वह जाति अपनी स्वातंत्र्य-भावना को उस ऐक्य एवं संगठन में प्रकट कर सके जो उसके मिलकर, बिलकुल एक होकर, कार्य करने में सहायक सिद्ध हो। स्वराज्य शासन-व्यवस्था के रूप परिवर्तन का अथवा शक्ति के केन्द्र को बदल देने का नाम नहीं है। वह तो समस्त जाति के स्वभाव में एक क्रान्ति उत्पन्न कर देना है। मुझे भय है कि हम लोग शासन-यन्त्र की आलोचना करने को आवश्यकता से अधिक महत्व देते हैं तथा उसका सुधार करने के लिये आवश्यक आध्यात्मिक शक्तियों की ओर से बिलकुल उदासीन हैं। हमें उस महान् तेजस् की आवश्यकता है जो प्रेरक शक्ति का भी कार्य करेगा, उस तेजस् की जो लामार्टाइन के शब्दों में हमें बताता है कि "ऐसा कभी नहीं हुआ कि किसी व्यक्ति ने गुलामी की जंजीर

अपने भाई के गले में डाली हो और ईश्वर ने उसके दूसरे छोर से उसी के गले को जकड़ न दिया हो।" दुर्भाग्य से परिस्थिति कुछ ऐसी है कि जो लोग राजनीतिक क्षेत्र में आधुनिकता के अनन्य भक्त हैं वही अपने स्वभाव तथा सामाजिक जीवन में मध्ययुग की सभ्यता के अन्ध-उपासक हैं। जब तक हम सामुदायिक जीवन तथा बन्धुत्व की भावना का विकास नहीं कर लेंगे तब तक पर्य्याप्त राजनीतिक उन्नति अथवा औद्योगिक विस्तार हम कभी न कर सकेंगे। किसी जाति के अपनी मनुष्यता अथवा मानवता की पुनः प्राप्ति के लिये किये गये सामुदायिक प्रयास के मार्ग में संसार की कोई शक्ति बाधक नहीं हो सकती। इस साहसपूर्ण कार्य्य में अनेक कठिनाइयों का सामना करना होगा पर उनके कारण हमें हताश न हो जाना चाहिये; वरन् उन्हें युग की ललकार समझ कर दूने उत्साह के साथ अपने इष्ट-साधन में लग जाना चाहिये। शिक्षा, अनुशासन एवं अनन्त सहिष्णुता ही हमारी सहायक हो सकती है।

कई दृष्टियों से हम आन्ध्र-निवासी बड़े भाग्यशाली हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि भारत का कोई भाग एकता की भावना का समुचित विकास करने में समर्थ है तो वह आन्ध्र है। यहाँ अनुदारता का प्राबल्य नहीं। हमारी मानसिक एवं धार्मिक उदारता प्रसिद्ध है। हमारी सामाजिक भावना तथा निर्देश-ग्रहण-शक्ति अब भी जीवित हैं। हमारी धर्म-भीरुता एवं रागात्मक कल्पना अभी तक

संकीर्णता से वहुत कुछ वची हुई हैं। हमारी स्त्रियाँ अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र हैं। हम सब—चाहे हिन्दू हों, चाहे मुसलमान, चाहे ईसाई—एक ही मातृ-भाषा के स्नेह-वन्धन में बँधे हुये हैं। यदि हमारा विश्वविद्यालय सेवा-भाव तथा सत्य के प्रेम में पगे युवक-युवतियों को लगातार एक वड़ी संख्या में निकालता रहा, तो इससे न केवल मानसिक ही वरन् आध्यात्मिक तथा नैतिक नवजागृति का भी जन्म होगा। ईश्वर करे आप ऐसा प्रयास करें कि कवि का स्वप्न वास्तविक हो जाय—

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वस्तद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥

—इस देश में सभी जीवन की कठिनाइयों पर विजय पा सकें, मंगल का दर्शन कर सकें, ज्ञान की प्राप्ति कर सकें, एवं सर्वत्र आनन्द की उपलब्धि कर सकें।

वन्धुओ, हम तुम्हें सम्पति, सम्मान एवं शक्ति के दिव्य पारितोषिक नहीं दे सकते। तुम्हें तो अश्रुतपूर्व कठिनाइयों से युद्ध करना है। ईश्वर से प्रार्थना है कि वह तुम्हें साहस एवं ज्ञान, आत्म-त्याग एवं कर्तव्य-बुद्धि दे जिनके विना अपने महान् कर्तव्य को पालन कर सकने की क्षमता तुम में आ ही नहीं सकती। विदा।

शिक्षा तथा राष्ट्रीयता

कहा जाता है, और सचाई के साथ कहा जाता है, कि विश्वविद्यालय का कार्य ऐसे युवकों का निर्माण करना है जो मानव-समाज में उपयुक्त स्थान ग्रहण कर सकें। उसे अपने सदस्यों को वह ज्ञान एवं कुशलता देनी होगी जो उन्हें योग्य नागरिक बना सके। किन्तु क्या मनुष्य की इतिकर्तव्यता ज्ञान के अर्जन अथवा व्यावसायिक शिक्षा-लाभ में ही है? क्या विश्वविद्यालय एक ऐसी संस्था है जो केवल उच्च शिक्षा का आयोजन करे; एक ऐसी मिल है जिसका काम केवल शासनयंत्र को चलाने में समर्थ क्लर्क एवं कारीगर का उत्पादन करना है? केवल कुतूहल को सन्तुष्ट करने वाला ज्ञान उस संस्कृति से भिन्न है जो व्यक्तित्व को परिमार्जित करती है। संस्कृति तो संसार के उन्नायक महापुरुषों की जन्म-तिथियों को कंठाग्र करना;

ऐटलांटिक महा सागर को पार करने वाले तीव्रतम जहाजों के नामों को रटना, अथवा विशिष्ट-व्यक्ति-परिचायक किसी ग्रन्थ के नवीनतम संस्करण से कुछ मनोरंजन सामग्री का संग्रह कर लेना नहीं है। देश की एक प्रसिद्ध संस्था का सिद्धान्त वाक्य है—'सा विद्या या विमुक्तये'—विद्या वही है जिससे मोक्ष प्राप्त हो, जिससे आत्मा का सर्वोत्कृष्ट विकास हो। यह भावना कुछ भारतीयों के विकारग्रस्त मस्तिष्क की ही उपज हो सो बात भी नहीं है। एक ज़माना हुआ जब "प्लैटो" ने कहा था कि मानव के प्राप्य पदार्थों में आध्यात्मिक संस्कृति ही सर्वश्रेष्ठ एवं सुन्दरतम है। गेटे के मतानुसार शिक्षा का उद्देश्य रुचि उत्पन्न करना है, केवल मात्र ज्ञानवर्द्धन नहीं। किसी व्यक्ति की संस्कृति की परीक्षा उसकी संचित ज्ञान-राशि से नहीं प्रत्युत उसके मस्तिष्क के प्रकार से की जाती है जिसका उपयोग जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में उसे करना होता है। शिक्षा तो विषय-विशेष के अनावश्यक सूक्ष्म ज्ञान से मस्तिष्क को भरने, ज्योतिहीन नेत्रों को प्रकाश देने, से भिन्न है। हमारी आत्मा कभी अन्धी नहीं हो सकती; केवल इतना हो सकता है कि वह नित्य परिवर्तनशील असत् पर ही आँखें गड़ाये रखे। प्रायः अभिमान तथा पक्षपात, क्षोभ एवं वासना के दुर्वह भार से हमारी दृष्टि और भी नीचे की ओर झुक जाती है। शिक्षक का कार्य्य उस दुर्वह भार को बढ़ाना नहीं प्रत्युत उसे दूर करके आत्मा को मुक्त कर देना है जिससे वह अपनी ऊपर उठने की स्वाभाविक वृत्ति को

स्वतंत्रता पूर्वक कार्य्य करने दे सके। विश्वविद्यालय में छात्र न केवल कुछ शिक्षा ही ग्रहण करता है वरन् अपने जीवन की परम कोमल अवस्था में भिन्न भिन्न बुद्धियों के पारस्परिक संघर्ष, विचार-विनिमय, सिद्धान्तों की परीक्षा एवं मानव-प्रकृति के परिवर्द्धित ज्ञान के विप्लवकारी प्रभाव के सम्पर्क में आने से कुछ बनता भी है। विश्वविद्यालय मनुष्यों के बीच आध्यात्यिक बन्धुत्व की स्थापना है, वह उन सत्य के अनुसन्धान करने वालों का समाज है जिनका विश्वास है कि जीवन के लिये यद्यपि सुख तथा सम्पत्ति परम आवश्यक हैं पर उसके लिये कुछ अन्य ऐसी वस्तुओं की भी आवश्यकता है जिनका महत्व इनसे कहीं बढ़ कर है। उसके मत में सिद्धान्तों तथा आदर्शों की प्राप्ति शक्ति एवं सम्मान की वासना से श्रेष्ठ है। विश्वविद्यालय से सम्बन्ध रखने का अर्थ होता है कि इसी विचार-धारा एवं भावना से हम भी प्रेरित हों, इसी उदार वृत्ति को हम भी प्राप्त कर सकें जो जीवन की कटुता को किसी अंश में कम कर सके। बहु-जन-समाकुल-संसार से दूर विश्वविद्यालय के एकान्त अध्ययन में जीवन-रहस्यों पर किये गये गम्भीर विचारों से संस्कृति का जन्म होता है। जिस पुरुष के हृदय ने महान् साहित्य तथा कला, धर्म तथा दर्शन की आत्मा का स्पर्श मात्र भी कर लिया है उसे जीवन में एक ऐसे रहस्य की अनुभूति होगी जिससे अन्यथा वह बिलकुल वंचित रहता। उसके हृदय में एक आन्तरिक सौन्दर्य का विकास होगा, उस आत्मिक वृत्ति का विकास जो भौतिक

वासनाओं के प्रबल प्रहारों के बीच भी अगोचर से नित्य, विश्वासपूर्ण सम्मिलन कराती है।

संस्कृति मनुष्य-जीवन में विप्लव ला देती है, उसकी मनोवृत्ति को ही बदल देती है। यह सम्पूर्ण मन तथा शरीर के विचार-व्यस्त हो जाने का नाम है। यह सम्पूर्ण प्राणी के, उसके ज्ञान तथा संवेदन के, उसके चित्त तथा बुद्धि के, विचार से उल्लसित हो उठने का नाम है। अंग-रेज कवि 'डान' की लज्जास्मित-युक्ता बालिका (Blushing Girl) के वर्णन की कतिपय सुन्दर पंक्तियाँ मनुष्य जीवन के ऐक्य का वर्णन करती हैं:—

Her pure and eloquent blood
Spoke in her cheeks, and so distinctly wrought
That one might almost say her body thought.

उसका विशुद्ध, वाग्मी रक्त उसके कपोलों में शब्दोच्चारण कर रहा था तथा इतने स्पष्ट रूप से काम में लगा था मानों उसका शरीर ही विचार-निमग्न हो।

"शरीर ही विचार-निमग्न हो।" सम्पूर्ण प्राणी ही विचार कर सकता है। मनुष्य को हमें केवल बुद्धि-व्यव-सायी जीव समझने की भूल नहीं करना चाहिये। बुद्धि में उठे हुये विचार अचेतन में जाकर हमारे चेतनाचेतन सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करते हैं। तभी हमारे शब्द, हमारे विचार, साकार रूप धारण करते हैं। यह विचार कि बिना प्रयास के भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, केवल एक मधुर स्वप्न है। ज्ञान तो अतिशय चिन्तन का,

कठिन आभ्यन्तरिक परिश्रम का परिणाम होता है। हमारे मानस-क्षेत्र में नृत्य करने वाले स्वप्न एवं संकेत हम पर पूर्ण अधिकार कर लें, हमें दबा लें, हममें क्रांति उत्पन्न करके नया रूप दें। ज्ञान जीवन बन जाय। कहा जाता है बिना रक्त-पान किये प्रेत शब्दोच्चार नहीं करते, ठीक वैसे ही, हमारे स्वप्न, हृदय-रक्त के बिना, वास्तविक नहीं बनते। संस्कृति वह वस्तु है जो स्वभाव माधुर्य्य, मानसिक निरोगता एवं आत्मिक शक्ति को जन्म देती है।

कहीं हमारी बात को आप ग़लत न समझें अतः यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सांस्कृतिक उपयोगिता 'कला' भाग के विषयों का ही कोई खास लक्षण नहीं है। जिस पद्धति से हम किसी विषय की शिक्षा देते हैं वही उसकी सांस्कृतिक उपयोगिता निर्धारित कर देती है, विषय की प्रकृति नहीं। रेकार्ड नामक एक प्राचीन शिक्षा-शास्त्री अपने "शिक्षा-मन्दिर" (Castle of Learning—1556) नामक ग्रन्थ में लिखता है कि ज्योतिष् शिक्षा का एक आवश्यक अंग होना चाहिये क्योंकि वह मनुष्य के अभिमान तथा आत्म-गौरव को कम करेगा एवं उसके मन को ईश्वर की महत्ता-भावना से भर देगा। एक शताब्दी के पश्चात् डेकार्ट ने एक मनुष्य से, जो उसके पास दैनिक जीवन के आचरण के सम्बन्ध में उपदेश लेने गया था, कहा—"हमें नित्य प्रति दैनिक कर्त्तव्य आरम्भ करने से पूर्व भगवान् की उस अद्भुतशक्ति का कुछ क्षणों तक ध्यान करना चाहिये जिसे उसकी महान् सृष्टि प्रकट करती है।" जब

तक एक सर्व-व्यापी रहस्य की भावना से हम भर नहीं उठे हैं तब तक हमें न तो विश्व की उच्चता का ही ज्ञान हो सकता है और न उसकी गम्भीरता का ही। जीन्स एवं एडिंगटन के नवीनतम ग्रंथों में बौद्धिक विनम्रता की भावना पाई जाती है। संस्कृति के कुछ परमावश्यक अंग, जैसे प्रमादहीन ज्ञान की इच्छा तथा बौद्धिक निश्छलता, वैज्ञानिक अध्ययन से विकसित होते हैं। सत्य-प्रेम का अनुरोध है कि हम पक्षपातों का परित्याग करें तथा प्राणाधिक प्रिय रागों को उत्सर्ग कर दें। बौद्धिक निश्छलता के दायित्व से कोई भी विश्वविद्यालय का छात्र मुक्त नहीं हो सकता। कहते हैं कि सत्य और विश्राम-सुख में से हम एक ही पा सकते हैं, दोनों किसी दशा में नहीं। विश्वविद्यालय भय-रहित जीवन को अपना उद्देश्य-वाक्य कभी नहीं बना सकता। भारत जैसे देश में वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता उससे कहीं अधिक है जितनी कि हम में से आधुनिकता का बड़े से बड़ा भक्त समझता है। यदि हमें अज्ञान तथा कष्ट से युद्ध करना है तो हमें अपने को आधुनिक-युद्ध-सामग्री से सज्जित करना होगा। जनसाधारण के हित-साधन में महात्माओं के ज्ञान की अपेक्षा विज्ञान का हाथ अधिक रहा है। यह समझना कि बहुत ग़रीब आदमी ही आनन्दमय जीवन व्यतीत कर सकता है भारी भूल है। समृद्धि से निर्धनता को, पुष्टिकर भोजन से अस्वास्थ्यकर खाद्य को तथा विशुद्ध वायु से दूषित वायु को, श्रेष्ठ बताना युक्ति-संगत नहीं। सरलता तथा दरिद्रता एक

ही नहीं हैं। अर्थ को भलीभांति समझे विना ही हम शब्दों का प्रयोग किया करते हैं। विज्ञान हमें वस्तुओं के निकट ले जाकर शब्दों की दासता से मुक्ति दिलाने में सहायता देगा। विज्ञान की वह सफलता, जिसने अस्तव्यस्त, नियम-हीन जीवन में सभ्यता की स्थापना की है, मानव-प्रकृति की महत्ता की उतनी ही परिचायक है जितनी कला की सफलता। यद्यपि अपने देश के लिये शुद्ध तथा प्रयोगात्यक विज्ञान का मैं किसी से कम समर्थक नहीं पर मैं उसके अध्ययन के साथ ही, सभी विषयों का संक्षिप्त परिचय दे देना भी आवश्यक मानता हूँ। ज्ञेय विषय के किसी अंग विशेष का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये बहुत बड़े अध्यवसाय एवं एकाग्रता की आवश्यकता पड़ती है, अतएव किसी अंग का ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकना मनुष्य के लिये सम्भव नहीं। विश्वविद्यालय के प्रत्येक छात्र को उन वस्तुओं का साधारण ज्ञान होना चाहिये जिनसे मनुष्य-जीवन वहुमूल्य, सार्थक एवं गौरवपूर्ण बनता है, उस विद्या तथा कला का ज्ञान जो उसके सांसारिक व्यवहार के रूप का विधान करती हैं। विश्वविद्यालय अपने उद्देश्य की पूर्ति में तब तक असफल ही रहेगा जब तक वह हमें अपने चारों ओर फैले लोक का थोड़ा बहुत ज्ञान नहीं करा देता—वह प्रकृति-लोक जिसका विस्मयोत्पादक क्रम है, वह मानव-अनुभूति-लोक जिसमें मनुष्य के इतिहास के विस्तृत क्षेत्र तथा उन्हें स्मरणीय बनाने वाली महत्वाकांक्षायें सन्निहित हैं, 'अदृश्य' का वह लोक जिसमें अनेक

युगों के उदय तथा अवसान के साथ नवीन एवं विशद अर्थों का आविर्भाव होता रहा है। अन्तर्द्वन्द्व-रहित चित्त सुखी जीवन का परमावश्यक अंग है तथा विश्वविद्यालय की शिक्षा अधूरी ही है यदि वह विद्यार्थियों को अपना मन रूपी घर व्यवस्थित करने के लिये यथेष्ठ अवसर देकर उन्हें आत्म-ज्ञान तथा विश्व में अपने स्थान का यथोचित बोध नहीं करा देती। अमेरिका के एक प्रसिद्ध औद्योगिक विद्यालय में प्रत्येक विद्यार्थी को कुछ दर्शन अनिवार्य्य रूप से पढ़ना होता है। कैम्ब्रिज के डा० मैक्टगर्ट दर्शन के साधारण सिद्धान्तों पर साप्ताहिक व्याख्यान दिया करते थे और विश्वविद्यालय का प्रत्येक सदस्य उसमें सम्मिलित हो सकता था।

राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्रबल भावना लोक-मानस को आन्दोलित कर रही है। पर अन्य पदार्थों की ही भांति स्वतंत्रता भी भीतर से प्राप्त की जा सकती है, वह बाहर से दान रूप में हमें दी नहीं जा सकती। जिस देश से हमें स्नेह है वह भौगोलिक क्षेत्र नहीं आध्यात्मिक सम्पत्ति है। जब तक मन, हृदय तथा बुद्धि, सेवा तथा प्रेम, विवेक, कोमलता तथा शक्ति के द्वारा हम सर्वतोभावेन उससे तादात्म्य का अनुभव नहीं करने लगते तब तक हमारा देश अपनी वर्तमान दुरवस्था में रहने को बाध्य है। जिन शक्तियों से हमें युद्ध करना है वे अधिकतर हमारी सीमा के भीतर ही हैं। अपने सम्प्रदाय से भिन्न सम्प्रदायों के प्रति मानव-सुलभ अनुराग का अभाव, हमारे विचारहीन विधि-निषेध,

हमारे सामाजिक अत्याचार जिन्होंने हममें से अनेकों को भीरु बना रक्खा है, हमारी धार्मिक कट्टरता आदि ऐसे दोष हैं जिनका निराकरण शीघ्र ही होना चाहिये। सामाजिक सद्भाव की स्थापना एवं त्याग तथा सेवा-भाव-विकास ऐसे आदर्श हैं जिनकी प्राप्ति के लिए प्रयास करना विश्वविद्यालय के उच्च पद के सर्वथा उपयुक्त कार्य हैं। व्यक्तियों की भाँति जातियों में भी दूसरों से सहयोग कर सकने की योग्यता उत्पन्न करना शिक्षा की सच्ची कसौटी है और यह सहयोग, मानवता तथा कोमलता से ही सम्भव है। यदि हमें संताप-ग्रस्त मनुष्यों को नियतिदत्त दुःख झेलने में सहायता देना है तो हमें सहानुभूति, स्नेह तथा उदारता लेकर उनके समीप जाना होगा। हमारे देश में परोपकार-भावना से प्रेरित व्यक्ति भी अधिकांशतः समाज-सुधारक-समितियों के सदस्य बनकर अथवा भ्रातृ-भाव-वर्द्धक-सभाओं में चन्दा देकर ही आत्मतुष्टि का अनुभव कर लेते हैं। पर मनुष्य दूसरों के समीप आत्म-प्रकाशन तो स्नेह तथा समवेदना से प्रभावित होकर ही करता है, प्रश्नावलियों अथवा मानसिक आरोग्य शालाओं के उत्तरों में नहीं। मनुष्य की आत्मा स्नेह पाने को आकुल रहती है तथा शुष्क कुतूहल से दूर भागती है। यदि हम अपना समय दफ्तर में मेज के सामने बैठकर तालिकायें तैयार करने अथवा सभाओं में उपदेशात्मक लेख वितरण करने की अपेक्षा नित्य सम्पर्क में आने वाले स्त्री-पुरुषों के हृदयों को जानने में बितावें तो हम अधिक सफलता के साथ समाज का उपकार कर सकते हैं। यदि हम

अपनी वासनाओं को पवित्र करके, आत्मा को मानव-प्रेम से भरके, आत्म-सुधार के उत्तेजनाविहीन किन्तु श्रमसाध्य कार्य में लग जाँय तो संसार का सुधार अपने आप हो जाय।

यदि आपके विश्वविद्यालय ने अन्धविश्वास को ठेस नहीं पहुँचाई; यदि उसने गम्भीर विचारपूर्ण गवेषणा को प्रोत्साहित नहीं किया, तो समझना चाहिये कि वह आपके लिये योग्य पथदर्शक नहीं बन सका। हमारे देश में प्राचीनता के चिन्ह, उन्हें शीघ्र हटाने का कितना ही प्रयत्न हम क्यों न करें, चारों ओर बिखरे पड़े हैं। पृथ्वी का धरातल एकान्त संस्कारहीन, बिलकुल ही कोरा, नहीं है; उसने अतीत के सूक्ष्म प्रभावों से ही वर्तमान रूप पाया है। कोई राष्ट्र, जिसकी जड़ इतिहास की गहराई में नहीं है, उन्नति नहीं कर सकता। एकान्त नवीन सभ्यता का आरम्भ असम्भव है, ठीक वैसे ही जैसे किसी अपूर्व वृक्ष की सृष्टि। हमें अतीत-निर्मित बन्धनों के भीतर रहकर ही काम करना है, उन्हें हटा सकने की शक्ति संसार में किसी को नहीं। अतीत की आत्मा का दर्शन हम जातियों के इतिहास में पाते हैं। यदि हम भारतीय इतिहास का अध्ययन जिज्ञासुभाव से करते हैं, उसमें अपने संकीर्ण पक्षपातों का आरोप करने के लिये नहीं, तो हमें वहाँ कोई रूढ़िगत कार्यक्रम नहीं दिखाई देता वरन् एक अनन्त विकास का दर्शन मिलता है। रच-नात्मक परम्परा, जीवित अतीत, उगकर बढ़ने वाले वीज की तरह होती है, लकड़ी के ठीकरे की भाँति नही। उसकी प्रत्येक अवस्था एवं रूप की प्रशंसा करने को हम वाध्य नहीं

हैं। प्राचीन जीवन व्यवस्था को आधुनिक युग में पुनर्जीवित करना केवल समय का अपव्यय करना है। आज हम मनु को व्यावहारिक पथप्रदर्शन के लिये पढ़ने लगें, इससे अच्छा तो हमारे लिये कदाचित यही होता कि मनु का जन्म ही न हुआ होता। प्राचीन काल के धर्मग्रन्थ हमारे युग की समस्याओं का समाधान नहीं कर सकते। किसी खास स्थान तथा देश के लिये उपयोगी वस्तुओं से भी प्रबल सर्वदेशकालोपयोगी सिद्धान्तों को ढूँढ़ निकालने में हमें जरा भी संकोच नहीं करना चाहिये। सदियों के अनुभवों को आत्मसात् करके हमें उन संकेतों को भी ग्रहण करना चाहिये जो अब भी हम तक आ पहुँचते हैं। भारतीय संस्कृति के महान् प्रतिनिधि ऐसे पुरुष थे जो गतिशीलता एवं अनवरत साहस से सम्पन्न थे और यदि हम इस सदा बदलने तथा आगे बढ़ने वाले संसार में चुपचाप बैठकर केवल पुराने राग अलापते रहे तो उनके सिद्धान्तों के सच्चे भक्त नहीं कहला सकते। आज्ञा देकर सूर्य को भारत के मैदानों में ही सदा के लिये रोक रखना हमारी शक्ति के बाहर की बात है। प्रचंड झंझावात के समय भी धर्मग्रन्थों की खोज में लगे रह कर हमने देश को नष्टप्राय कर दिया। "जो हमारे पूर्वज करते रहे वही हमारे लिये भी अच्छा है" कहना पतनोन्मुख होने का सूचक है। प्रगतिशील व्यक्ति तो यह मानता है कि कोई भी अपना पूर्वज नहीं बन सकता। आज हमारा प्रधान कर्त्तव्य यह है कि परिस्थितियाँ जिस रूप में हमारे सामने हैं हम उनका

मुक़ाबिला करें, भले ही वे हमारे राष्ट्रीय अभिमान को ठेस पहुँचावें। ऐसा करते समय सभी धर्मों के आधारभूत सिद्धान्तों का ख़याल रक्खें जो, मोटे तौर पर, संसार की आत्ममयता, व्यक्तित्व की पवित्रता, पारस्परिक सम्बन्ध, सेवाधर्म, एवं त्याग-शक्ति हैं।

वह सभ्यता जो विचारसम्बन्धी सामाजिक अत्याचारों को किसी हालत में भी मदद न पहुँचाने वाली मनोवृत्ति नहीं पैदा कर सकती सच्ची सभ्यता ही नहीं है। संस्कृत पुरुष तो मुक्त आत्मायें हैं। भारतीय संस्कृति का मूल-सिद्धान्त मानव-प्रेम ही रहा है। उसके लिए समस्त वसुधा ही एक कुटुम्ब बन गयी है। प्राचीन भारत का आदर्श ऋषि चिल्ला चिल्ला कर घोषित करता था "जब तक एक भी बन्दी कारा-वास में है, मैं मुक्त कहाँ ? जब तक कोई भी जन-समुदाय गुलामी की जंजीरों में जकड़ा है, मैं भी उसका ही साथी हूँ।"

जहाँ भारतीय सभ्यता का प्रधान लक्षण मानव-प्रेम रहा है वहाँ हमारे युग का सबसे बड़ा सिद्धान्त राष्ट्रीयता है। "सही हो चाहे ग़लत पर हमारा ही देश" घोषित करने वाला सिद्धान्त पहले पहल भारत में नहीं निकला। अपने ही देश को सदा ठीक समझने वाली मनोवृत्ति भी हमारे यहाँ नहीं उपजी। राष्ट्रवाद की प्रबल भावना पाश्चात्य प्रभाव का ही सीधा परिणाम है। जिन लोगों ने पश्चिमी जातियों के इतिहास को पढ़ कर बरसों यही सीखा कि आज़ादी से बेहतर कुछ नहीं, आज़ादी सिर्फ ज़रूरी ही नहीं, सबसे ज्यादा ज़रूरी है, मालूम पड़ता है, उन्होंने

स्वतन्त्रता का यह पाठ भलीभाँति पढ़ लिया है। कैसे आशा की जाय कि वे थर्मापली एवं सलामीस के आख्यानों को पढ़ कर भी मनःक्षोभ की अनुभूति न करें? गैरीबाल्डी की पैलार्मो से नेपील्स की यात्रा को क़िले के चारों ओर साधारण घूमना नहीं समझा जा सकता। उस वयःकाल में जब संस्कारों को ग्रहण करके बिलकुल अपनालेना सरल होता है; जब प्रेम में निराशा का अथवा प्रयास में विफलता का अनुभव नहीं हुआ होता; जब आदर्शों का आकर्षण वेगपूर्ण होता है तथा भविष्य का द्वार बिलकुल खुला रहता है हमारे नवयुवक तथा नवयुवतियाँ पाश्चात्य स्वातन्त्र्यवाद के इतिहास का अध्ययन करते हैं। कोई आश्चर्य नहीं यदि उनकी कल्पना उल्लसित तथा महत्वाकांक्षा प्रज्वलित हो जाती है। उन्हें पता लगता है कि प्राचीन भारतवासियों तथा ग्रीसनिवासियों की सभ्यता का विकास स्वतन्त्रता के वातावरण में हुआ। यह केवल घटना-चक्र ही नहीं है कि आधुनिक योरप में ज्ञान का प्रसार एवं विज्ञान की उन्नति उन्हीं सदियों में हुई जब मनुष्य के मस्तिष्क की गुलामी का बन्धन कुछ ढीला पड़ा। जिस समय मनुष्य का मस्तिष्क किसी प्रकार के अत्याचार के भार से दबा रहता है उस समय 'अंधकार युग' होता है। पाश्चात्य सम्पर्क ने हममें स्वाभिमान एवं आत्म-गौरव की भावना को जाग्रत किया और भारतीय नवजागृति को सहायता दी। एशियाई तथा योरोपीय; पूर्वी तथा पश्चिमी; क्रमशः आन्तरिक शान्ति एवं बाह्य कुशलता पर

ज़ोर देनेवाली दो भिन्न-भिन्न धाराओं का आज भारत-वर्ष में सम्मिलन हो रहा है। और कहीं भी दो संस्कृतियों का इतना निकट सम्पर्क तथा पारस्परिक आदान-प्रदान देखने में नहीं आता। इस क्रम के फलस्वरूप, हो सकता है, हम अधिक विस्तार के सिद्धांतों तक पहुँच जायँ और आधुनिक जीवन की जटिल आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। भारत-ब्रिटेन-सम्मिलन प्राच्य तथा पाश्चात्य के सामंजस्य का बाह्य स्वरूप हो सकता है। अगर ब्रिटिश साम्राज्य स्वेच्छापूर्वक एक सूत्र में बँधनेवाले राष्ट्रों का संघ; आज़ाद क़ौमों का वह संघ जहाँ प्रत्येक की सम्मति से बना हुआ विधान ही मान्य होगा, विश्व शांति में सहायक एक राष्ट्रसंघ बन सका तो वह पारस्परिक सद्भाव एवं समानता के आधार पर ही बनेगा। समान हितों की रक्षा के विचार से राजनीतिक सम्बन्ध-स्थापन, युक्तियुक्त आर्थिक विनिमय तथा पारस्परिक औद्योगिक सहायता, मनुष्य समाज के दो प्रधान भाग योरप तथा एशिया का सांस्कृतिक सम्बन्ध, जिससे मानव परिवार के समान अधिकार रखनेवाले सदस्यों की हैसियत से सभी बहुमूल्य उपयोगी पदार्थों का विनिमय वे कर सकें, श्रेष्ठतर मनुष्य जाति के उपयुक्त एक सुन्दर सबल संस्कृति के निर्माण में सहयोग-व्यवस्था, एक ऐसा आदर्श है जिसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना सर्वथा उचित है। लेकिन संकुचित विचार-वाले लोग ब्रिटिश-सम्बन्ध का बड़ा ही घृणित अर्थ लेते हैं। यदि साम्राज्य का अर्थ दुनिया के दूसरे छोर तक अपने झंडे

गाड़कर, केन्द्रीय शक्ति, पुरुष, रुपया तथा गोलाबारूद के लिए बाजारें तलाश करना है; यदि उसका अर्थ भिन्न-भिन्न वर्णों के सैनिक, विरोधी सेनाओं का मुक़ाबला करने के लिए, समरभूमि में एकत्रित करना है; यदि उसका अर्थ पिछड़े हुए, कमजोर लोगों का शोषण है तब तो वह साम्राज्य गँवारपन, प्रतिक्रियावाद एवं विश्वशांति के लिए एक खतरा है। यदि उदात्त आदर्श की रक्षा की जा सकी, यदि भारतीय-ब्रिटिश सम्बन्ध में सद्भावना तथा सहानुभूति से काम लिया जा सका, तो साम्राज्य ज्यादा दिन तक टिक सकेगा। स्नेह का बन्धन सिपाहियों एवं मशीनगनों की अपेक्षा अधिक ठोस रक्षा का साधन है।

इस समय संसार की आँखें लन्दन के सेण्ट जेम्स पैलेस में शीघ्र ही होनेवाली गोलमेज सभा पर गड़ी हैं। यदि हमारे प्रतिनिधि बनियाँ बनकर, मुनाफ़े की ओर ही नज़र लगाये रहे, तो इस सम्मिलन से किसी ठीक समझौते की आशा करना व्यर्थ होगा। भारत शासित होनेवाली प्रजा नहीं, अपनी अन्तरात्मा की खोज करनेवाला राष्ट्र है। भारतीय मस्तिष्क के लिए आदर्शों का महत्व वास्तविकता की अपेक्षा बहुत अधिक है, भले ही वे आदर्श भ्रान्तिमूलक हों। भारतवासी स्वदेशाभिमान एवं आत्मसम्मान की भावना से ही सोचता-विचारता तथा अनुभव करता है। वह तो दासता-जात लज्जा एवं सर्वश्रेष्ठ भारतवासी के भी चेहरे पर अङ्कित चिन्ता-रेखाओं को विशेष महत्त्व देता है। एक ओर अँगरेज़ रक्षा की आवश्यकता को अत्यधिक

महत्त्व देते मालूम पड़ते हैं; दूसरी ओर भारतवासी आजादी के हक़ पर ज़ोर देते हैं। सुरक्षा एवं स्वाधीनता सदा एक साथ नहीं रहतीं। क्या हमें वह ज्यादा से ज्यादा आज़ादी जिसमें कम से कम ख़तरा हो, मिलेगी? यह एक कठिन समस्या है। ब्रिटिश साम्राज्य को वर्तमान कार्य से अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य कदाचित् कभी न करना पड़े। यदि एक रास्ते में जबर्दस्त ख़तरा है तो दूसरे में उससे भी बड़ा ख़तरा है। विरोधी हितों के संघर्ष का निबटारा वादविवाद तथा बहस से हो सकता है, पर संवेगों के संघर्ष का परिणाम भय तथा संदेह होते हैं जो शान्तिपूर्ण समझौते को कष्टसाध्य बना देते हैं। इस मसले को हम तभी हल कर सकते हैं जब हम विरोधी दृष्टिकोण को उदारतापूर्वक समझने का प्रयत्न करें तथा उस ऊँचे स्तर की नीतिपटुता से काम लें जो अपनी अविचल दृष्टि भविष्य पर ही गड़ाये रखकर उन कठिनाइयों को ज़रूरत से ज्यादा महत्त्व नहीं देती जो संकुचित-दृष्टि अदूरदर्शी राजनीतिज्ञ को विकटाकार प्रतीत होती है। शान्ति एवं स्वाधीनता को पसन्द करनेवाले ऐसे अनेक पुरुष हमारे मध्य में हैं जिनको पूर्ण आशा है कि ग्रेट ब्रिटेन इस महान् अवसर के उपयुक्त उच्चता का प्रदर्शन करेगा तथा अवसर से लाभ उठाकर स्वतन्त्रता की सीमा का विस्तार करेगा।

विश्व विद्यालय के स्नातको! इस युग में जीवित रहना भी हमारे गर्व का कारण है। तुम्हारी आँखों के सामने ही इतिहास लिखा जा रहा है। सब ओर हलचल है। स्थिरता

कहीं नहीं दिखाई देती। तुम ऐसे महान् सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों को अपनी आँखों से देखोगे जैसे हमारे देश में, किसी भी जीवित पुरुष की स्मृति में नहीं घटित हुये। विद्वानों का कर्तव्य है कि लोगों को ज्ञानानुमोदित निश्चित मार्ग का दर्शन करावें। आलस्य में पड़कर इस सीधे सिद्धान्त का प्रचार करने से कोई लाभ नहीं कि संस्थायें बनाई नहीं जातीं, वह तो अपने आप विकसित होती हैं तथा कठिनाइयाँ जो कोमल उँगलियों से स्पर्श किये जाने पर काँटों के समान प्रतीत होती हैं यदि वैसी ही छोड़ दी जाँय तो स्वयमेव सुव्यवस्थित हो जाती हैं। समाज को स्वयं अपना सुधार करने के लिये छोड़ देने से हम तूफ़ान में फँस जाँयगे। तुम्हारा कर्तव्य है कि विवेकपूर्वक योजना बनाकर निर्माण का काम करो। अपने समस्त कार्यों में पवित्र जीवन के मूल सिद्धान्त को सदा स्मरण रखो।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्य्यताम्
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

मेरी हार्दिक इच्छा है कि इस विश्व विद्यालय के छात्र एवं छात्रायें संख्या, विद्या तथा चरित्र में वृद्धि-लाभ करें और ज्ञान से सुसज्जित होकर, संस्कृति से भर कर, आदर्श के उपासक बनकर, संसार में प्रवेश करें। विदा।

नेतृत्व की शिक्षा ।

विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त करना तो जीवनयात्रा का एक छोटा भाग मात्र है। वह शिक्षा-पथ का अवसान नही। वास्तव में वह एक नवीन यात्रा का प्रारम्भ है, ऐसी यात्रा जिसमें आपको अपनी मानसिक एवं आध्यात्मिक पुष्टि को तथा विश्वविद्यालय में अर्जित शिक्षा की कुशलता को प्रमाणित करना होगा। नये अनुभव, नवीन प्रश्न एवं नूतन परिस्थितियाँ आपके उन गुणों को प्रयुक्त होते देखना चाहेंगी जिनके विकास के लिये ही विश्वविद्यालयों का अस्तित्व है। यह कहने के लिये कि शीघ्र ही भारत भी एक स्वतंत्र राज्य हो जायगा विशेष ज्ञानी होने की आवश्यकता नहीं। भविष्य में आपको बहुत ताकतें तथा जिम्मेदारियाँ मिलेंगी। नये भारत के निर्माण में शिक्षित जनों का जो महत्वपूर्ण कर्त्तव्य होगा उसका अतिरंजित वर्णन

नहीं किया जा सकता। यदि नेता वही है जिसे अपने गन्तव्य स्थान का पता हो, जिसे अपनी उस सूझ तथा अन्तर्ज्ञान पर पूरा अधिकार हो जिसकी सहायता से ही हमारी सभ्यता चिरस्थायिनी बन सकी है; और जो इन सिद्धान्तों का प्रयोग जीवन के किसी भी क्षेत्र में कर सकें; तो ऐसे नेतृत्व की शिक्षा का प्रबन्ध विश्वविद्यालय ही कर सकते हैं। विश्वविद्यालय केवल उच्चशिक्षा तथा व्यावसायिक ज्ञान देने वाली संस्थायें नहीं हैं। उनका कर्तव्य तो नई पीढ़ी को शिक्षित करना, उनके चरित्र का निर्माण करना है—एक नये प्रकार का बौद्धिक नेता तैयार करना है।

यदि आपकी शिक्षा ने गम्भीर विचार तथा मनन करने की शक्ति को विकसित नहीं किया, यदि उसने आपको लोकप्रिय भावना तथा समूह-वासना का प्रतिरोध करने की योग्यता नहीं दी, तो स्पष्ट है कि आपकी शिक्षा बेकार है। शिक्षित व्यक्ति जिस ओर सत्य लेजाय, जाने को तैयार रहता है और वह बाध्य होकर किसी काम को केवल इसीलिए नहीं करने लगता कि सभी उसे कर रहे हैं। वह जानता है कि ज्ञान में शक्ति है और सत्य स्वतंत्रता की ओर लेजायगा। नवीन भारत का निर्माण करने के लिये हमें गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा तथा बुद्धिमत्ता के साथ योजना तैयार करनी होगी। सृजन तो धर्म्मविश्वास का कार्य्य है, पुनरुद्धार तथा आशा का कार्य्य है, जो बिना नई दृष्टि के सम्भव नहीं। प्रोफेसर ह्वाइट हेड का कथन है: "इसके पहिले कि कारीगर पत्थर उठावे हम अपने मन में

देव-मन्दिर को तैयार कर लेते हैं तथा प्राकृतिक शक्तियों के घात-प्रतिघातों से जर्जरित होने के बहुत पहिले ही अपने मनमें ही हम उसको विनष्ट कर डालते हैं।" प्रत्येक महान् रचना भौतिक, साकार, रूप ग्रहण करने के पूर्व हमारी आत्मा में प्रकाशित हो जाती है। यदि यह सच है कि भौतिक व्यापार ही जीवन का आधार है तो यह भी उतना ही सच है कि ये भौतिक व्यापार स्वयं मानसिक शक्ति के आज्ञापालक हैं। विचार ही जगत् का नियंत्रण करते हैं। वही अन्धी शक्तियों पर विजय प्राप्त करेंगे। समाज का पुनर्निर्माण करने वाले गत्यात्मक सिद्धान्तों की खोज करने के लिये हमें विश्वविद्यालय के पण्डितों एवं विद्वानों की शरण में जाना होगा।

गम्भीर विचार की जितनी आवश्यकता आज है उतनी पहिले कभी नहीं रही। हमें चारों ओर उद्वेलित, उथल पुथल से भरा, जीवन दिखाई पड़ता है। विचार करने पर पता चलता है कि हमें एक ऐसी परिस्थिति का सामना करना है जो उन विभिन्न सम्मिलित घटना-प्रवाहों का परिणाम है जिनमें होकर, पिछली कई शताब्दियों में, योरोप के राष्ट्र गुजर चुके हैं। बौद्धिक जागृति, औद्योगिक क्रान्ति, लोक-तन्त्र तथा आज़ादी के लिये राजनीतिक युद्ध, धर्म्म-सुधार आदि उन सभी विपत्तियों का सामना, जिसे पाश्चात्य राष्ट्रों ने वैयक्तिक ढँग से भिन्न भिन्न कालों में किया, हमें एक ही साथ करना पड़ रहा है और सो भी एक बढ़े हुये रूप में; क्योंकि हमारी जनसंख्या तथा देश-विस्तार उनसे

अधिक है। यद्यपि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में महान् परिवर्तन हो रहे हैं, वह क्षेत्र चाहे राजनीतिक एवं औद्योगिक हो चाहे सांस्कृतिक तथा सामाजिक, तो भी काफ़ी मात्रा में ढीली ढाली, अस्पष्ट विचार-क्रिया पाई जाती है। देश अनिर्दिष्ट दिशा की ओर बढ़ता जा रहा है। हमारे बीच अकस्मात् ही आ पड़ने वाला पुरुष यह सोच सकता है कि भारतवासियों को राजनीति से अधिक दिलचस्पी और किसी विषय में नहीं है। वे गम्भीर प्रश्न जिनका हल ढूँढने में हम युगों व्यस्त रहे अब प्रायः बिलकुल भुला दिये गये हैं। आज की सामान्य मनोवृत्ति सभी सांस्कृतिक वस्तुओं को हेय समझने तथा जीवन को विस्तृत अतीत की अपेक्षा अधिक भद्दा तथा असंस्कृत बना देने की है। मैं इस बात से इन्कार नहीं करता कि राजनीति में हमारे बहुत ज्यादा उलझे रहने के समुचित कारण हैं। केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जिस उग्र श्रम तथा उद्योग की अपेक्षा आज है वह पहिले कभी नहीं थी। बर्नार्डशा का कहना है कि पराधीन राष्ट्र उस मनुष्य के समान है जिसे नासूर का रोग हो। वह किसी दूसरी बात को सोच भी नहीं सकता। वह उन सभी नीम-हकीमों का चेला बन जाता है जो उसे रोग-मुक्त कर देने का दम भरते हैं। पाश्चात्य शिक्षा ही प्रधानतः राजनीतिक अशान्ति के लिये ज़िम्मेदार है। सामाजिक विस्फोट की तह में यही शक्ति काम करती रही है। ग्रीस के प्राचीन नगर-राज्यों से प्राप्त राजनीतिक परम्परा ने हमें स्वतन्त्र नागरिकता एवं अधिक

न्याय-युक्त समाज-व्यवस्था के लिये आकुल स्नेह की शिक्षा दी। हमने सीख लिया कि प्रजा की सम्मति के बिना शासन करना गुलामी का चिन्ह है। शासन का उद्देश्य पटुता की अपेक्षा शिक्षा देना ही अधिक है। उसे तो स्वशासन के लिये उपयुक्त शिक्षा एवं अवसर देने की व्यवस्था करना चाहिए। मांस-पेशियाँ यदि इस्तेमाल न की जाँय तो बरबाद हो जाती हैं; जोड़ यदि फैलाये न जाँय तो अकड़ जाते है। नये स्वप्न की प्राप्ति के लिये उत्सुक श्रम करने वाला अधीर युवक प्रत्येक क्षण की देरी से खिन्न हो उठता है। भारत में अंगरेजों ने जो जो किया उसमें यह अशान्ति-दान उनकी प्रशंसा का मूल है; निन्दा का कारण नहीं। पश्चिम से, मालूम पड़ता है, हमने यह भी सीख लिया है कि सफलता सब साधनों को दोषमुक्त कर देती है तथा देश-सेवा चरित्र-गत दुर्बलता को क्षम्य मानती है। ऐसा राजनीतिक धर्म्म उस परम्परा से ठीक मेल नहीं खाता जो क्रूरता की गणना अक्षम्य अपराधों में करती है। राष्ट्रीयता का अर्थ तो यह है कि हम अपनी आत्मा की, सम्मान तथा ईमानदारी की, यथाशक्ति रक्षा करें, और समस्याओं को सुलझाने के अपने व्यक्तिगत ढँग को बनाये रखें। हम आजादी इसलिए चाहते हैं कि हम अपनी रक्षा कर सकें और संसार की उन्नति में अपनी खास मदद दे सकें। यदि हम अपने व्यक्तित्व का परित्याग कर देंगे तो यह काम हम कभी न कर सकेंगे। हमें अपने लिये "रशन आत्मा" अथवा "इंग्लिश" आत्मा" का निर्माण नहीं करना चाहिये किन्तु

इन आत्माओं के उन सभी गुणों का सार खींच लेना चाहिये जिनकी सहायता से हम अपनी आत्मा को अधिक समृद्ध बना सकें। लाभ हम उसी वस्तु से उठा सकते हैं जिसमें परिवर्तन करके हम अपनेपन की छाप लगा सकते हैं।

वास्तव में इस प्रश्न पर किये गये विचारों में काफ़ी क्रमहीनता पाई जाती है। अनेक नेताओं के मस्तिष्क में ब्रिटिश हुकूमत के प्रति विद्रोह तथा ब्रिटिश संस्थाओं के प्रति स्नेह, अजीब तरह से मिल गया है। वे हमारे देश को पश्चिमी रूप देने के बड़े इच्छुक हैं यहाँ तक कि वे इसे योरोप की नकल ही बना देना चाहते हैं। पश्चिमी संस्थाओं की समीक्षा भी कार्ल मार्क्स, टाल्स्टाय, रोमां रोलैण्ड, बर्ट्रेण्ड रसल इत्यादि पश्चिमी विद्वानों से प्रभावित होकर की जाती है। हम किसी विषय में उग्र भारतीय हैं तो किसी में उग्र पश्चिमी। अनिश्चित संभावनाओं से पूर्ण हम परिवर्तनकालीन प्राणी हैं जिनके मस्तिष्कों में पर्याप्त अनवस्था है। मनुष्य के हृदय में होनेवाले मूक संघर्ष राजनीतिक क्षेत्र के समारोह युक्त दृश्य संग्रामों की अपेक्षा अधिक महत्त्व के हैं। दुर्भाग्य से हमारे विश्वविद्यालय जिनका कर्तव्य प्रधान विषयों पर होनेवाले मूलभूत विचारों का नियमन तथा नियंत्रण करना है आलस्य एवं उदासीनता में पड़े हुए हैं।

सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों की दशा में भी अधिक अन्तर नहीं। स्वाभिमान तथा घृणा के विरोधी झूलों पर झूलनेवाले हम अपने-अपने काम में लगे लोगों को बराबर

आँखें खोले देखा करते हैं तथा इस भय से दुखी एवं चिन्ता-ग्रस्त भी रहा करते हैं कि कहीं लोग हमारा मज़ाक न उड़ाने लगें। हमें अपने जनतारूपी शरीर की इन बीमारियों पर शर्म आती है पर हम उन्हें दूर करने का मार्ग ढूँढ़ नहीं पाते। परम्परारूपी वस्त्र फटकर चीथड़े बन चुके हैं। क्रान्तिकारियों का विशुद्ध विवेकवाद अतीत से पूर्ण विच्छेद कर लेने पर ज़ोर देता है। प्रतिक्रियावादियों का उतना ही उग्र यथार्थवाद वर्तमान को मिटा देने के पक्ष में है। हमारा आन्तरिक ऐक्य नष्ट हो चुका है। सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक समन्वय ढीला पड़ गया है। इस विश्वविद्यालय शिक्षा से हमें क्या लाभ यदि वह हमें फिर से एकत्व नहीं दे सकती तथा प्राचीन एवं नवीन में सामञ्जस्य नहीं स्थापित कर सकती।

अतीत का कल्पनापूर्ण आकर्षक वर्णन करना सरल है। किन्तु उन परम्परा-प्राप्त विचारधाराओं से सन्तुष्ट रहना जो प्रथा के रूप में घनीभूत हो चुकी हैं पतन का लक्षण है। नित्यगतिशील जीवन में अतीत वर्तमान नहीं है। प्रगति का लक्षण मौलिकता तथा साहस है, पतन का अनुकरण तथा प्रथा। अतीत का ज्ञान कितना ही पूर्ण क्यों न हो, जिन प्रथाओं के रूप में वह हमारे सम्मुख आया है वह कभी अन्तिम नहीं हो सकतीं। उन्हें तोड़-फोड़कर नया रूप देना होगा। हमें जीवन-शक्ति को एक बार फिर खोज लेना होगा एवं उसका उपयोग नवीन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करना होगा। किसी जाति की आत्मा का दर्शन न तो हमें

उसके अतीत में मिलता है और न वर्तमान जीवन में ही। उसके इतिहास का अध्ययन करते-करते हम एक ऐसे गम्भीर मूलतत्व तक पहुँच जाते हैं जो नित्य नवीन रूपों में प्रकट होते रहने पर भी अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर पाता। किसी जाति की आत्मा का वर्णन इसी प्रगतिशील आदर्श के सहारे किया जा सकता है. उस क्रियात्मक सिद्धान्त के सहारे जो विकास की किसी विशिष्ट अवस्था में बहुत अपूर्ण रूप से अभिव्यक्त रहता है पर विभिन्न अवस्थाओं को कालक्रम की दृष्टि से देखने पर जिसका स्पष्ट आभास मिलता है। इसका रहस्य विकास-नियम में सन्निहित है। भारत में व्यष्टि तथा समष्टि के भीतर नित्य वर्तमान इस आत्ममयता एवं सत्य के अनुसंधान पर खास जोर दिया जाता रहा है। भारत ने जीवन के विकास का सदा स्वागत किया है। इस सच्चे भाव की नवप्राप्ति ही अनावश्यक जटिल जाल को ढीला करने में सहायक हो सकती है। परम्परा-प्राप्त घासफूस को साफ कर देना होगा जिससे नित्य पदार्थों की रक्षा हो सके।

हमारी परम्परा में क्या नित्य है और क्या अनित्य इसका ठीक विचार केवल वे शिक्षित लोग ही कर सकते हैं जिनके हृदय में अतीत के लिये काफी सम्मान एवं वर्तमान के लिये काफ़ी विश्वास है। हमारी शिक्षा बिलकुल बेकार है यदि अध्ययन काल में ही चारों ओर फैले विश्व के सम्बन्ध में ऐसा ज्ञान, जीवन की प्रगति तथा मस्तिष्क के विकास के सम्बन्ध में ऐसी बुद्धि, वह हमें नहीं दे देती

जिससे हमें उस आत्मतत्व का सम्यग् दर्शन हो सके जो छोटे बड़े सभी प्राणियों के जीवन का आधार है। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्यों के मस्तिष्क को नवीन ज्ञान से भर देना ही नहीं है, वरन् उनके पूर्ण आध्यात्मिक विकास में सहायता देना है। उसको चाहिये कि उन्हें आध्यात्मिक वस्तुओं का मूल्य समझाये, उनकी दृष्टि क्षण भङ्गुर संसार से हटा कर नित्य पदार्थों की ओर तथा कोरे उपयोगितावाद से दूर अमरता की ओर ले जाय। ऐसी शिक्षा के फलस्वरूप हम अपने उन संकीर्ण मतों तथा गतिहीन विश्वासों के लिये, जो हमारे सामाजिक सम्बन्धों को भी कठिन बना देते हैं, लज्जा का अनुभव करेंगे। व्यक्ति अथवा सम्प्रदाय की दूसरों के साथ सहयोग कर सकने की क्षमता ही शिक्षा की सच्ची कसौटी है।

प्लैटो के मतानुसार नागरिक का ही वृहद् रूप राष्ट्र है। यदि हम अनुत्तरदायी शासन में रहते हैं तो यह हमारा दुर्भाग्य नहीं, दोष है। गम्भीर विवेचन से पता चलता है कि हमारी शासन-व्यवस्था हमारी ही प्रतिकृति है। एकग्रीक वक्ता का कथन है—"नगर दीवारों से नहीं, आदमियों से बनता है।" राष्ट्र-संज्ञा का कारण भौगोलिक स्थिति नहीं, विचारों की एकता है। यदि राष्ट्र-भावना को हम बढ़ाना चाहते हैं तो हमें समान विचार, एवं समान रुचि उपजाना होगा। विश्वविद्यालय समान रुचि को तभी बढ़ा सकते हैं जब उन्हें स्वतंत्र वातावरण में काम करने दिया जाय। सरकारी प्रभाव एवं जनता के आन्दोलन से बचकर चलना

विश्वविद्यालय के लिये बहुत कठिन हो जाता है। देखा गया है कि सारी दुनियाँ में राजनीतिक सिद्धान्त रूढ़ियों का रूप धारण कर लेते हैं। रूस में साम्यवाद धर्म है एवं व्यक्तिवाद देशद्रोह समझा जाता है। जब कोई राष्ट्र धर्म-संघों की भाँति अनुदार, रूढ़ि पूजक, बन जाता है तो विश्वविद्यालयों का धर्म हो जाता है कि राष्ट्र द्वारा किये गये भ्रामक प्रचार से जनता की रक्षा करें। ऐसे देश में जहाँ विश्वविद्यालयों को राजकीय सहायता मिलती है, उन्हें विशेष सावधानी से काम लेना चाहिये तथा सभी धार्मिक सम्प्रदायों एवं राजनीतिक गुटबन्दियों से दूर रहना चाहिये।

विश्वविद्यालयों को समस्त जनता पर अपना प्रभाव डालना चाहिये और उन दलों का सामना करना चाहिये जो हमारी उन्नति में बाधक हैं। उन्हें उन लोगों की भी शिक्षा-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहिये जो साधारण विद्यार्थी की हैसियत से उनमें प्रविष्ट नहीं हो सकते। विश्वविद्यालयों में एक ऐसा विभाग होना चाहिये जो उनकी चहार दीवारी के बाहर उपयुक्त केन्द्रों में व्याख्यानों का समुचित प्रबन्ध करे और विशिष्ट विषयों के अध्ययन के लिये उपाधि-परीक्षाओं का आयोजन करे। अगर हमें बड़े-बड़े व्यवसायियों के निरंकुश शासन के खतरे से बचना है और अज्ञान-प्रशंसक प्रवृत्ति की ओर फिर से नहीं लौट जाना है तो हमें एक विराट् शिक्षा-आयोजना को अपनाना होगा।

संस्कृति पाण्डित्य का पर्य्याय नहीं है। वह विवेक बुद्धि का, जीवन को भले प्रकार जान लेने का, नाम है। उदार-शिक्षा का उद्देश्य दिमागी ताकत के साथ साथ नैतिक आचरण को उत्पन्न करना है, स्वस्थ विचार धारा के साथ ही स्वभाव माधुर्य्य को जन्म देना है। शिक्षित पुरुष अपनी जीवन-कला में एक विशिष्ट सौन्दर्य, एक विशिष्ट परिष्कार, एक परिचायक विशेषता, भर देता है जो उसके लक्ष्यहीन जीवन-संग्राम की व्यर्थता में सार्थकता का मधुर पुट है। संस्कृति मस्तिष्क की कोई स्थिति-विशेष अथवा रूढ़ि-संहिता नहीं है प्रत्युत एक व्यापक जीवन-सिद्धान्त है, एक ऐसा दृष्टि-कोण जिसे मान लेने पर मनुष्य-सम्बन्धी कोई वस्तु विजातीय, साधारण अथवा अपवित्र नहीं रह जाती। ऐसी शिक्षा जो हमें चतुर्दिक प्रसरित दरिद्रता तथा दुःख-दैन्य, जीवन की सामान्य भारग्रस्तता, अत्याचार-पीड़ितों के मूक दुःख-निवेदन एवं दलित मानवता से उदासीन बनाये रहे, वास्तव में बेकार है। यदि हमने मानव समाज की एकता को नहीं समझा तथा नीच एवं पतित समझे जाने वालों से मानव-सम्बन्ध न निबाहा तो हम सभ्य नहीं। अधम से अधम पुरुष भी हमारे कुतूहल को जगा सकता है तथा सब से बड़ा अपराधी भी अपने अंगूठे के निशान में एक ऐसा विशेषत्व रखता है जिसे, काफ़ी नुक़सान बर्दाश्त करने के कारण, वह स्वयं जाने रहता है। महान् साहित्य हमारे इस लज्जाजनक संतोष को भग्न कर देता है तथा हमें यह दिखला देता है कि मनुष्य कितने घोर कष्ट झेल सकता

है तथा कितना निरपेक्ष जीवन विता सकता है। यदि हम गँवार, नीच एवं गन्दे नहीं बने तो कष्ट उठाकर, असफल होकर तथा भुलाये जाकर भी सच्चे अर्थ में सफल हैं। शालीनता एवं महत्ता ही जीवन की सार्थकता है। मनुष्य की दृष्टि हमारी असफलताओं पर रहती है, पर भगवान हमारे यत्न को, अध्यवसाय, को देखता है।

आज हमारे देश में सबसे बड़ी कमी इस बात की है कि हम दूसरों की विचार-धारा को समझना नहीं चाहते। चाहे भारतवासी और अंगरेजों को लें, चाहे हिन्दू मुसलमानों को, वही कठिनाई सामने आती है। कभी कभी ऐसा मालूम पड़ता है कि हम एक दूसरे को समझते हैं, पर अकस्मात् ऐसी स्थिति आती है जब हमें स्पष्ट रूप से यह पता चल जाता है कि हम एक दूसरे के अर्थ को भली-भाँति नहीं समझते थे। वास्तविक कठिनता उच्च दर्शन अथवा कला के सम्बन्ध में नहीं होती, व्यावहारिक जीवन एवं राजनीतिक उद्देश्य के सम्बन्ध में होती है। मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा लक्ष्यों को समझना कोई वैज्ञानिक पद्धति नहीं है जिसकी शिक्षा विश्वविद्यालय में दी जा सके। यह तो एक आत्मा का दूसरी आत्मा से प्रभावित होना है जिसका न तो विश्लेषण ही सम्भव है और न प्रदर्शन ही किन्तु फिर भी जो दूसरों तक पहुँचाया जा सकता है। यह बात बहुत कुछ अध्यापकों तथा उनके जीवन-दर्शन पर, जो कोरे पाण्डित्य से भिन्न है, निर्भर है। विश्वविद्यालय की चहार दीवारी के भीतर भिन्न सम्प्र-

दाय तथा भिन्न स्वभाव रहते भी, एक ही आदर्श को प्राप्त करने का उद्योग एक ऐसा अद्वितीय अनुभव है जिसका प्रभाव व्यापक एवं महत्वपूर्ण होता है। अनेक मित्रों का सुखद बन्धुत्व, अनेक व्यक्तियों का निकट परिचय केवल कभी कभी आने वाली प्रबल स्मृतियों का ही काम नहीं करते, वरन आजीवन हमारे साथ रहते हैं। इसका भार तुम्हारे ऊपर है कि तुम आपस में ऐसी प्रतिज्ञा करलो कि जब कोई मनोमालिन्य अथवा कलह संघटित होगी तो तुम उन लोगों में होगे जो धैर्य्य एवं संयम का उपदेश देंगे और घोषित करेंगे कि विवेक, न्याय, तथा दोनों पक्षों को भली भाँति सुनना तथा समझना ही, सब विरोधों का अन्त करने में समर्थ हैं।

मैथ्यू अरनाल्ड का कथन है कि माधुर्य्य तथा ज्ञान सभ्यता के लक्षण हैं। हम शक्ति को भी इनमें सम्मिलित कर सकते हैं। स्वभाव-माधुर्य्य, उदार दृष्टि, आत्मबल, धैर्य्य, ज्ञान एवं साहस संस्कृत मस्तिष्क के चिन्ह हैं। एक किंवदन्ती है कि भूत-प्रेत बिना रक्तपान किये बोलते नहीं। ठीक उसी तरह हमारे महान् स्वप्न बिना हृदय-रक्त का पान किये कभी पूर्ण नहीं होते। कोई महदुद्योग बिना तप के, बिना आत्मा के क्लेशपूर्ण प्रयास के, सफल नहीं हो सकता। उपनिषद् का वचन है कि ब्रह्म तप की शक्ति के द्वारा ही अनन्तरूप सृष्टि की रचना करता है। "स तपो तप्यत, स तपस्तप्त्वा इदम् सर्वम् असृजत," (तैत्तरीय उपनिषद् २, ६)—'उसने तप किया, तप करके उसने इस

सब की सृष्टि की। दुनियाँ में सर्वश्रेष्ठ कार्य्य वही करते हैं जो सांसारिक सुखों को लात मार कर अनेक कष्ट उठा-कर, नैराश्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। प्राचीन भारत के ऋषि भयशून्य थे, उन्हें मृत्यु का भी भय न था। बुद्ध ने अपना महल छोड़ दिया, तकलीफें बर्दाश्त कीं, पर नवीन सृष्टि की। ईसा का जीवन तो व्यथा की ही कथा है। जिसने महान कष्ट नहीं उठाया वह वास्तविकता के मूल तक नहीं पहुँचा। कष्ट सहन करने में हम पुरुष अभी कच्चे हैं। हमारी बहिनें इसमें बहुत दक्ष हैं। भारत के नव-निर्माण में उनका काफ़ी हाथ होगा।

मेरी धारणा है कि एक नवीन जड़वाद ने हमें आक्रान्त कर लिया है अतएव दुःख-सहिष्णुता एवं शक्ति की आव-श्यकता पर मैं ख़ास ज़ोर देना चाहता हूँ। हम आनन्दोप-भोग में पड़ गये हैं और अपनी समस्त बौद्धिक शक्ति का प्रयोग, बिना सोचे विचारे, भौतिक सफलता की ही प्राप्ति में कर देना चाहते हैं। हम अपने जीवन को अधिक अर्थ-प्राप्ति के लिये उत्सर्ग कर देना चाहते हैं, उच्च आदर्शों की प्राप्ति के लिये नहीं। हमें भौतिक सुख भोग में अन्ध श्रद्धा है। इस परिवर्तन काल में एक नये सरल जीवन की, एक नये त्याग की, आवश्यकता है और मेरे नौजवान दोस्तो, तुम्हें, जो विचार एवं क्रिया में नेतृत्व ग्रहण करने वाले हो, इसकी सब से अधिक आवश्यकता है। हम तुम्हें सम्पत्ति शक्ति अथवा सम्मान के दिव्य पारितोषिक नहीं दे सकते। हमारे पास तो केवल घोर श्रम, संघर्ष, तथा क्लेश हैं।

ईश्वर से प्रार्थना है कि तुम्हारा विश्वविद्यालय तुम्हें उनका उत्साहपूर्वक सामना करने में सहायता दे, तुम्हारे साहस की वृद्धि करे और नैराश्य एवं नास्तिकता से तुम्हारी रक्षा करे। विदा।

बाल्य-भावना

मैं समझता हूँ कि इस विश्वविद्यालय की स्थापना सरकार की उस नीति का परिणाम है जो एक-केन्द्रीय (unitary) तथा अनिवार्य-छात्रावास-व्यवस्था-सम्पन्न (residential) विश्वविद्यालयों को प्रोत्साहन देती है—ऐसे विश्वविद्यालय जिनमें नियमबद्ध व्याख्यानों की अपेक्षा सामान्य सामाजिक सम्पर्क को अधिक महत्त्व दिया जाता है। सामाजिक तथा खेल-सम्बन्धी क्रियाओं से, व्यक्तित्व के संघर्ष से, विचार-विनिमय से, सिद्धान्त परीक्षण से जिस जीवन-ज्ञान का उदय होता है उसका महत्त्व बौद्धिक गुणों की अपेक्षा भी अधिक होता है। "ज्ञान का अर्थ न तो पाण्डित्य ही होता है और न कुशलता ही प्रत्युत जैसा फ्रेंच लोकोक्ति का कथन है—सबको समझ जाना सबको क्षमा कर देना है।" वह हमें जीवन की जटिलता एवं उसके

रहस्य को समझने में सहायता देता है। उसकी बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनका ज्ञान हमें नहीं के बराबर है। ज्ञानी पुरुष प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में निश्चित मत रखने का दावा नहीं करता; और न वह किसी लेखक को कतिपय शब्दों में अथवा किसी सभ्यता को छोटे-से अर्थपूर्ण वाक्य में प्रकट किया करता है। उसका मस्तिष्क नये ज्ञान को ग्रहण करने के लिए हमेशा तैयार रहता है; उसके विचार स्वतन्त्र एवं परिवर्तन-सहिष्णु होते हैं उसमें अपने से भिन्न प्रकार की मनोवृत्तियों को समझने की शक्ति होती है। उसके मन में अवकाश तथा वायु होती है और इस प्रकार वह हठधर्मी से बचा रहता है तथा उन मतों से भी सहानुभूति रखने को सदा तैयार रहता है जो उसके अपने सिद्धान्तों से मेल नहीं खाते। ऐसी बुद्धि हमें इस योग्य बना देती है कि हम अपने व्यक्तिगत विचारों तथा आकांक्षाओं को पूर्व-निश्चित लक्ष्य से कम महत्व का समझें। वह हमें जीवन के यथार्थ अर्थ को ग्रहण करने में सहायता देती है। यह समझ अथवा बुद्धि तो कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसे फीते से नापा जा सके किम्बा तराजू में तोलकर किसी विभाग के सदस्यों के द्वारा दीक्षान्त-समारोह के समय विद्यार्थियों को वितरण कर दिया जा सके। वह तो संक्रामक रोग की तरह है जिसे दूसरों के सम्पर्क में आने से ही हम ले सकते हैं। पुराने ज़माने के लोग विद्यालयों में अर्जित संस्कृति की उपमा उस मशाल से दिया करते थे जो एक हाथ से दूसरे हाथ में होती हुई पीढ़ियों से चली आ रही है। यह

जलती हुई मशाल एक भयानक गुण है। इसने अनेक क्रान्तियों को जन्म दिया; अनेक प्रचण्ड ज्वालाओं को प्रज्वलित किया है। यह क्रान्ति की प्रतीक है; यह वह शुद्धि करनेवाली अग्नि है जो परम्परा से प्राप्त लकड़ी-घासफूस को जलाकर भस्म कर देती है। यदि हम नीचे की मिट्टी के ऊपर आने से डरते हैं; यदि हम इस आग के फैलने के परिणामस्वरूप होनेवाली सामाजिक; आर्थिक एवं राजनीतिक उथल-पुथल से भयभीत हैं तो हमें विश्वविद्यालय के समीप भी नहीं जाना चाहिये। उसे बन्द कर देना ही उचित होगा।

यदि विश्वविद्यालय-शिक्षा का अर्थ भावी आवश्यकताओं का पहिले से अनुमान करना एवं नवीन परिस्थितियों का सामना करने की योग्यता देना है तो हमें चाहिये कि प्राणहीन विचार एवं परम्परा को उसके मार्ग में बाधा न डालने दें। शिक्षित मनुष्य वह व्यक्ति नहीं है जो सड़ी-गली भ्रान्तियों का शिकार है वरन वह इन मृतप्राय विचारों के भार से मुक्त है। वह आश्चर्य एवं कुतूहल की भावना सदा बनाये रखता है तथा उसका दिमाग [illegible] एवं साहसपूर्ण रहता है। विश्वविद्यालय की भावना एक युवक की भावना है। प्लैटो के टिमायस (Timaeus) में लिखा है कि एक मिश्रदेश का पुरोहित, जो बहुत ज्यादा बुड्ढा था; कहा करता था—"अरे सोलन, तुम ग्रीक लोग तो निरे बच्चे हो और आज तक कोई भी बुड्ढा आदमी ग्रीसवासी नहीं देखा गया।" सोलन ने उत्तर में उससे पूछा

कि आपका अभिप्राय क्या है ? उसने जवाब दिया—"मेरा अभिप्राय यह था कि मनसे तुम सब बच्चे हो। तुम लोगों में परम्परा से आया हुआ कोई प्राचीन मत नहीं है और न बहुत पुराना कोई विज्ञान ही है।" ग्रीक लोगों के साहित्य में पूज्य ग्रन्थ अथवा प्राचीन पुस्तकें भी नहीं थीं जो उनकी स्वतंत्र विचार-क्रिया में बाधक होतीं। वे कभी अतीत के भार से दबे नहीं रहे। बहुत कुछ इसी भाव को व्यक्त करने वाली संस्कृत में एक कहावत है—'विमर्श रूपिणी विद्या।' विवेक बुद्धि, समीक्षा की भावना, ही शिक्षा का सार है। विश्व-विद्यालय ऐसे मस्तिष्क को बनाना एवं बढ़ाना चाहता है जो प्रायः प्राप्त होनेवाली वस्तुओं को नित्य सत्य नहीं मान लेता, जो रूढ़ियों को तरल बना देता है, तथा जो ऐसी निश्चित धारणा नहीं बना लेता कि हमारे अपने विचार एवं जीवन-व्यवस्था नित्य प्राकृतिक व्यवस्था का ही भाग हैं। इस बाल्य-भावना-परिपूरित मस्तिष्क का विशेष गुण जो पापों से उसकी रक्षा करता है, उसकी नास्तिकता है। नवीन का मुक़ाबला कर सकने की अपनी शक्ति पर उसे पूर्ण विश्वास रहता है। यदि कोई विश्वविद्यालय ऐसे पुरुष तैयार करता है जो भग्नोत्साह हैं, जो हमेशा खतरों से बचने में लगे रहते हैं, जिन्हें अपने सुख-भोग की चिन्ता है एवं जो किसी भी साहसपूर्ण कार्य में हाथ डालना नहीं चाहते, तो वह विश्वविद्यालय अपने धर्म का पालन नहीं करता। यदि वह यौवन तथा उत्साह से पूर्ण नवयुवकों को लेकर, भीरु, स्वार्थ-परायण, अनुदार बनाता

है; यदि वह उनके विचारों को सड़ाता एवं उत्साह को भग्न करता है तो वह विश्वविद्यालय अपने कर्तव्य पालन में बिलकुल असफल हुआ समझा जाना चाहिये। मनुष्य का धर्म है कि वह सदा आगे बढ़ता चले। साहसपूर्ण कार्य करने की क्षमता लेकर ही वह जन्म लेता है। "हमारे बीच कोई नित्य रहने वाला नगर नहीं है किन्तु हमारा प्रयत्न एक ऐसे नगर तक पहुँचना अवश्य है।"

एक बहुत बड़ी ग़लतफ़हमी यह फैली हुई है कि हमारे नौजवान आज़ादख़याल हैं; वे शास्त्र एवं परम्परा के बन्धन से मुक्त हो गये हैं, और प्रत्येक युवा स्नातक एक नवीन धर्म तथा नवीन शास्त्र की रचना कर रहा है। मैं तो चाहता हूँ कि ऐसा होता, पर उसके कोई लक्षण दिखाई नहीं देते। हमारा नौजवान, गुरु अथवा नेता का, बहुत बड़ा गुलाम है। उससे जो कहो वही मान लेता है। उसमें बौद्धिक भीरुता है तथा वह दूसरों के विचार स्वीकार कर लेना ही ज़्यादा पसन्द करता है। प्रत्येक प्रचारक एक नया पैग़म्बर समझा जाता है तथा नवीनतम वेशभूषा सम्बन्धी रुचि का, ऋषि-हृदय में ईश्वर-प्रकाशित ज्ञान की भाँति, स्वागत किया जाता है। हमारे नवयुवक अपने मानसिक पक्षपातों एवं संवेगों के आकर्षण से बच नहीं पाते और प्रायः देखने में आता है कि स्वार्थ-साधन की भावना उनके न्याय-विचार की आवाज़ को दबा देती है और विवेक-दृष्टि पर परदा डाल देती है। भीरुता एवं अनुदारता मन के सामान्य स्वभाव हैं और उनसे समाज

को सबसे बड़ा खतरा है। हम सब जानते हैं कि ग्रीस के महाकाव्य-युग का अवसान स्नायुशक्ति-क्षीणता में ही हुआ। मनुष्य के जीवन में तथा जातियों के इतिहास में ऐसे अल्प-स्थायी समय आते हैं जो उद्वेगों की प्रबलता एवं सम्पादित-कार्य-बहुलता की दृष्टि में सामान्य जीवन की शताब्दियों की समता कर सकते हैं। आज भारतवर्ष का वैसा ही असाधारण युग है। राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने की प्रबल भावना सबसे बड़ी प्रेरणा है। गरम नीति में विश्वास रखनेवाले राजनीतिज्ञ भी अंगरेजों की उन सेवाओं से इनकार करने की जरूरत नहीं समझते जो, आरम्भ में, उन्होंने उन भागों में शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित करके कीं जो गृह-कलह-निरत विरोधी दलों की समरभूमि बने हुये थे। पर इसके साथ ही हम उस नुक़सान को भी भुला नहीं सकते जो विदेशी शासन के कारण हमारे राष्ट्र के आत्मसम्मान तथा मनुष्यता को ठेस लगने से हुआ है। आर्थिक संकट और राजनीतिक पराधीनता से उत्पन्न हमारे मानसिक एवं आध्यात्मिक पतन की वर्तमान दशा ने हमारे ध्यान को पूर्ण रूप से आकृष्ट कर लिया है। पश्चिमी इतिहास एवं संस्थाओं के अध्ययन ने हमारे मन में स्वतन्त्रता-प्रेम तथा आत्मसम्मान की भावना को जगा दिया है। स्वातन्त्र्य-प्रेम मानव-मस्तिष्क की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। आजादी हम इसलिए नहीं चाहते कि उससे हम अपनी आर्थिक उन्नति कर सकेंगे अथवा शासन प्रबन्ध में अधिक सुविधा हो सकेगी। वह किसी अन्य उद्देश्य का साधन नहीं वरन् स्वयं सर्वोच्च उद्देश्य

है। लार्ड ऐक्टन ने अपने "प्राचीन काल में स्वतन्त्रता का इतिहास" (१८७७) नामक ग्रंथ में लिखा है—"उदार पुरुष अपने देश को शक्तिशाली, समृद्ध किन्तु ग़ुलाम देखने की अपेक्षा ग़रीब, कमज़ोर, असम्मानित किन्तु आज़ाद देखना अधिक पसंद करता है।" प्रत्येक राष्ट्र को स्वराज्य-शासन का अनुभव प्राप्त करने का अधिकार है, भले ही इसके लिये उसे कम उत्तमता से चलनेवाले शासन रूपी मूल्य को चुकाना पड़े। खास-खास राजनीतिक संस्थाओं में स्वतन्त्रता एवं स्वनिर्णयाधिकार की भावना भर देने की उत्कट अभिलाषा, कई कारणों से, प्रबल रूप धारण कर रही है जिसके कुछ मुख्य कारण- देश की दरिद्रता, मध्यम वर्ग की बेकारी, निरक्षरता, अधिक संख्यक मृत्यु, व्यय-साध्य सामान्य शासन, बहुत बड़ा फ़ौजी खर्च, एवं स्वतंत्रता तथा स्वनिर्णयाधिकार प्राप्ति के लिए लड़ा गया महान युद्ध है। मेरा विश्वास है कि ऐसा एक भी अँगरेज नहीं हो सकता जिसने अपना इतिहास ईमानदारी के साथ पढ़ा है और अपनी परम्परा-प्राप्त रीति-रिवाजों का जो भक्त है, किन्तु फिर भी जो भारतवर्ष की स्वराज्य की माँग को अवैध ठहरावे। संसार का प्रत्येक देश अपने नागरिकों को स्वदेश-निर्मित वस्तुओं के उपयोग करने का उपदेश देता है, तब फिर यदि हम भी अपने उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहित करना चाहते हैं तो यह काम अपराध नहीं गिना जा सकता। यदि हमारे नेताओं की यह माँग है कि अपने आर्थिक एवं राजनीतिक मामलों का प्रबन्ध हम स्वयं करें

तो यह इस देश में प्रयुक्त ब्रिटिश नीति का ही स्वाभाविक परिणाम है।

समय की घड़ी न तो पीछे की ओर जा सकती है और न स्थिर खड़ी रह सकती है। ब्रिटिश शासकों के लिये अपने पिछले इतिहास को भूल कर भारतवर्ष में जबर्दस्ती हुकूमत करना असम्भव है। अत्याचार वैध राजनीतिक आकांक्षाओं के विकास को रोक नहीं सकता और न हमारी हिंसावृत्ति उसमें सहायक ही हो सकती है। बड़े खेद का विषय है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिये अधीर हमारे कुछ नवयुवकों ने हिंसा-मार्ग को अपना लिया है। इस पथ के पथिक हिंसा-मार्ग की विनाशकारी प्रकृति को भली-भाँति नहीं समझ पाते। यदि हमने इसे बढ़ने दिया तो यह न सिर्फ भारत की आजादी के दिन को ही और आगे बढ़ा देगा वरन् एक ऐसा प्रभाव पीछे छोड़ जायगा जिसके कारण देश में सभ्य जीवन असम्भव हो जायगा। हमारा कर्तव्य है कि हम उनके लिये विवेक तथा समझौते का मार्ग अधिक आकर्षक बनावें। वह दिन न केवल भारत तथा ब्रिटेन के लिये प्रत्युत समस्त संसार के लिये एक महान् दिन होगा जब हम कोई ऐसा समझौता कर सकेंगे जिसके अनुसार भारत अपने स्वाभिमान, आत्म-सम्मान एवं स्वतन्त्र राष्ट्रीयता का बिना त्याग किये, ब्रिटिश साम्राज्य का सदस्य होने में सन्तोष-लाभ करेगा। ग्रेट ब्रिटेन, मुझे यक़ीन है, अभी भूला नहीं है कि किस प्रकार उसने अमेरिकन उपनिवेशों को खो दिया तथा दक्षिण अफ्रीका को

बचा लिया। भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य का सदस्य होने से कभी इनकार न करेगा यदि इस सदस्यता का अर्थ वह सम्बन्ध हो जिससे दोनों का लाभ हो, केवल अपने लाभ के लिये ब्रिटेन का भारत पर नियंत्रण मात्र नहीं।

यदि भारतवर्ष के शासन का उत्तरदायित्व भारतवासियों को सौंप दिया जाय तो भी यह मसला हल नहीं हो जाता। यह एक भ्रान्त धारणा है कि जैसे ही भारत अपना प्रबन्ध करने के लिये स्वतंत्र हुआ वैसे ही सभी सुखी एवं संतोषी हो जायँगे। स्वराज्य सब खराबियों को दूर नहीं कर सकता। "रिफार्म बिल" के सम्बन्ध में सिडनी स्मिथ ने कहा था—"सभी जवान लड़कियाँ समझती हैं कि जैसे ही बिल पास हुआ हमारा ब्याह हो जायगा। विद्यार्थी समझते हैं कि दुर्बोध व्याकरण का पढ़ाना बन्द कर दिया जायगा और फल की बनी मिठाई बहुत सस्ती बिकने लगेगी। सैनिक दूनी तनख्वाह निश्चित माने बैठे हैं। प्रतिभाहीन कवि समझते हैं कि उनके महाकाव्यों की माँग बढ़ जायगी।" हमें ऐसा नहीं समझना चाहिये कि भारत को स्वराज्य मिलते ही हमारे पास काफ़ी खाने को होगा, काफ़ी पीने को होगा, अच्छे कपड़े, सुन्दर मकान होंगे, शिक्षा एवं छुट्टी का सबके लिये उचित प्रबन्ध होगा। स्वराज्य मिलते ही ऐसा नहीं होगा कि सबके सिर तो सख्त हो जायँ, पर तकिया मुलायम हो जाँय। किसी की आज्ञा से ही कवि-कल्पना को यथार्थ नहीं बनाया जा सकता। स्वराज्य की प्राप्ति तथा रक्षा के लिये सबसे पहिली आवश्यकता एक

अधिक न्याय-युक्त सामाजिक व्यवस्था की है। हमें एक ऐसे सामाजिक भवन का निर्माण करना होगा जिसका मूल सत्य, स्वातंत्र्य एवं साम्य के सिद्धान्तों में होगा। विश्व-विद्यालय के सदस्य इस नये भवन के बनाने में कारीगर का काम भी करेंगे तथा अपेक्षित सामग्री भी स्वयं होंगे। यदि वे विश्वविद्यालय से निकलकर, ईमानदारी की भावना लेकर, निर्द्वन्द्व होकर, साहस तथा विवेक के साथ जीवन आरम्भ करें तो वे भावी भारत के निर्माण में हमारे सहायक होंगे।

प्रत्येक देश के इतिहास में ऐसे अवसर आते हैं जब समष्टि के हित में व्यष्टि का उत्सर्ग करना आवश्यक हो जाता है। महायुद्ध के दिनों में योरोपीय राष्ट्रों के लिये एक ऐसा ही युग था जब उनके नागरिकों ने राष्ट्रहित के लिये अपने व्यक्तिगत सुख एवं लाभ का परित्याग कर दिया था। यह सच नहीं है कि ऐसा अवसर केवल तभी आता है जब बाहर से शत्रु के आक्रमण का भय हो। जब जल-प्लावन अथवा अनावृष्टि का समय आता है तो एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है जब देश का हित-साधन उसके नागरिकों के व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा अधिक महत्व का माना जाता है। मैं समझता हूँ कि आज हमारे देश को एक बहुत महत्वपूर्ण समस्या हल करनी है। आज हमें किसी युद्ध, क्रान्ति अथवा राष्ट्रीय दिवालियेपन का डर नहीं है; हमें तो आन्तरिक कलह का खतरा है। जिस नव भारत को बनाने का हम प्रयास कर रहे हैं उसे राष्ट्रद्रोही शक्तियाँ, उसके जन्मकाल में ही, गला घोंटकर मारे डाल रही हैं।

इस समय अपने जागरण की घड़ी में हम अपने को चारों तरफ़ ऐसी शक्तियों से घिरा पाते हैं जो हमारे बन्धनों को चिरस्थायी बनाने के उद्योग में हैं। हम जो साम्प्रदायिक झगड़े का निबटारा नहीं कर सके उसकी प्रतिक्रिया बड़ी भयावह हुई है। विश्वास, भयशून्यता एवं आशा का स्थान एक नये अविश्वास, एक नई चिन्ता एवं एक नये अनिश्चय ने ले लिया है। उन्नतिशील राष्ट्रों की प्रयोग एवं साहस की भावना हम खो चुके हैं। प्राचीन काल में अनेक शक्तिशाली राष्ट्र, परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार न बदलने के कारण, बरबाद हो चुके हैं। ज़माने ने देखा कि ये बेकार हैं अतः वह खुद आगे बढ़ गया और अपनी गति के साथ इन्हें बहा ले गया। यदि हमें अपनी रक्षा इष्ट है तो हमें चाहिये कि जलती हुई मशाल, पवित्र करने वाली अग्नि-विद्रोह की भावना, लेकर आगे बढ़ें। आज हमें अवश्य ही लोहा लेना है उस अतीत से जो हमें दबाये हुये है, बर्बरता के उन स्मृति-चिन्हों से जिन्होंने हमारे जीवन को ही खतरे में डाल रक्खा है, एवं सरल तथ्य विषयक उस अद्भुत कल्पना से जिसने सभ्य जीवन से युद्ध की घोषणा कर रक्खी है। हम अपने दैनिक जीवन में ऐसे काम कर डालते हैं जो हमारी मनुष्यता के लिए लज्जा का विषय हैं। हम भोजन करते हैं, वस्त्र पहिनते हैं, आनन्दोपभोग में रत रहते हैं. किन्तु जो इन सबका उत्पादन करते हैं वे अस्वास्थ्यकर वातावरण तथा बुरी आर्थिक दशा में रहकर धीरे-धीरे, मर रहे हैं। दीन-दुखियों के प्रति होनेवाली स्वाभा-

विक सहानुभूति हम दबाये रहते हैं क्योंकि उससे हमारा आर्थिक लाभ नहीं। अपने सुख भोग का मूल्य हम बहुत बड़े अन्याय को स्वीकार करके चुकाते हैं। हम उस चमत्कार की प्रशंसा करते हैं जो हमारे लाखों भाइयों तथा बहिनों को उनके सहज मानवीय अधिकारों से वंचित रखता है और घोर लज्जा का विषय है कि हम उसे भ्रमवश धर्म समझ बैठे हैं।

तुम्हारी शिक्षा बिल्कुल बेकार है यदि वह हठधर्मी के खतरे से तुम्हें बचा नहीं सकती। कोई मत केवल इसीलिये सत्य नहीं हो सकता कि वह प्राचीन काल से चलता आया है और हम बुरी तरह से उससे चिपटे हैं। यदि हममें इतनी शक्ति है कि उसे स्वीकार न करने वालों के लिये दण्ड का विधान कर सकें तो केवल इसीलिये, उसमें सत्य का अंश अधक नहीं हो सकता। लोकतंत्र तथा तानाशाही सिद्धान्तों में विरोध है, चाहे वे सिद्धान्त राजनीतिक हों और चाहे धार्मिक। सच्चा लोकतंत्रवादी मानता है कि सब तरह के लोगों के मिलने से ही संसार बनता है, अतः उसके लिये यह मानना आवश्यक नहीं कि जिसके धार्मिक विश्वास उसके विश्वासों से भिन्न हैं वह सीधा नरक जायेगा। हममें इतनी मनुष्यता तो अवश्य होनी चाहिये कि हम अन्य लोगों के अच्छे कार्यों का मूल्य आंक सकें, फिर उनका दृष्टिकोण एवं मानसिक शक्तियाँ कितनी ही भिन्न क्यों न हों। कानपुर, ढाका तथा चिटगाँव की करुणाजनक घटनायें एवं राष्ट्र विरोधी भावनाओं के प्रचार से साफ़ पता चलता है कि यद्यपि बीसवीं

शताब्दी के आधार पर रचित विधान के लिये हमने बहुत आन्दोलन कर रक्खा है पर हमारी मनोवृत्ति एवं मस्तिष्क मध्यकालीन ही बने हैं। मध्ययुग में धर्म-संघ ही वह संस्था थी जिस पर मनुष्य के समस्त धार्मिक तथा राजनीतिक जीवन का दायित्व था। लेकिन अगर अर्वाचीन योरोप के धर्माधिकारी उसी परम्परा को बनाये रखना चाहें और स्त्रियों के घांघरों की उचित लम्बाई के सम्बन्ध में नियम बनाने लगें तो लोग उनका मज़ाक उड़ाये बिना न रहेंगे; फिर भी, उससे कहीं अधिक हास्यास्पद क़ानून. आज के शिक्षित पुरुष भी, गम्भीरतापूर्वक स्वीकार कर लेते हैं, तथा उन्हें कार्यान्वित करने में, एक दूसरे से लड़ मरने में भी संकोच का अनुभव नहीं करते। हमारी सामाजिक व्यवस्था अथवा अनवस्था में पुजारियों का अब भी बहुत बड़ा हाथ है। जब तक हम उनके प्रभाव से मुक्त नहीं हो जाते, अथवा जाति बिरादरी एवं सम्प्रदाय को देश से बढ़ कर मानते हैं, तब तक हमारी विचारधारा मध्यकालीन ही है और हम सच्चे लोकतंत्र के अयोग्य हैं। यदि हम इस बढ़ती हुई आफ़त को रोक नहीं देते तो अवश्य ही हम फिर बर्बरता में जा पहुँचेगे। सभी वर्गों एवं सम्प्रदायों की महत्त्वाकांक्षा तथा शक्ति-क्षीणता एक समान हैं। यदि हमें काफ़ी भोजन नहीं मिलता; यदि हम स्वास्थ्य का उचित ध्यान नहीं रखते, यदि हमें स्वास्थ्य-वर्द्धक स्थानों में काम और आराम करने को नहीं मिलता. तो ये अभाव किसी एक वर्ग अथवा सम्प्रदाय तक ही

सीमित नहीं हैं। ऐसा न हो कि जब भारतीय स्वतंत्रता की प्रगति का इतिहास लिखा जाये तो जनता के किसी एक भाग के सम्बन्ध में—वह हिन्दू हो अथवा मुसलमान, सिख हो अथवा ईसाई—यह लिखा जाये कि उसने अपने लाभ के लिये देश के साथ विश्वासघात किया।

चारों ओर युवकों के विद्रोह की चर्चा हो रही है। मुझे भय है कि इस विद्रोह के साथ मेरी पर्याप्त सहानुभूति है, और मुझे इस बात की शिकायत है कि यह विद्रोह उतना अधिक नहीं जितना चाहिये। जनसाधारण की यह धारणा कि प्राचीन सभ्यता आदर्शवादी थी एवं आधुनिक जड़वादी है विद्रोह का नहीं, प्रतिक्रिया का सूचक है। वह तो रूढ़िवादिता के समर्थन में, केवल ऊपर से उचित प्रतीत होनेवाली युक्ति का प्रयोग मात्र है। रोग तथा दरिद्रता में ज़रा भी आदर्श नहीं, मनुष्यों के साथ भार-वाही पशुओं जैसा व्यवहार करनेवाली व्यवस्था में आध्यात्मिकता खोजे भी नहीं मिलती। मनुष्यों की दुःख-निवृत्ति अथवा सुख की वृद्धि में नियोजित विज्ञान में जड़वाद अथवा नास्तिकता नहीं है। ऐसा मालूम होता है कि दूषित समाजव्यवस्था एवं धार्मिक कट्टरता के विरुद्ध विद्रोह करनेवाले नवयुवकों की ही विजय होगी। इस गम्भीर अवसर पर परिस्थिति से उदासीन रहनेवाले क्रूरता करने के अपराधी हैं। अन्याय जनता की उदासीनता से ही पलता है। बुरे स्वामी, अन्यायपूर्ण क़ानून, पतित नेता, झूठे शिक्षक इसीलिये फलते फूलते हैं कि उन्हें कभी लल-

कारा नहीं गया। अन्यायियों का बोलबाला है; क्योंकि न्याय-अन्याय की समझ रखनेवाले आलस्य में पड़े हैं। अर्द्ध नग्न तथा बुभुक्षा-पीड़ित मनुष्यों के शारीरिक एवं मानसिक कष्टों की कल्पना भी करने की ताक़त अगर आपके दिमाग़ में होती तो उदासीन रहना सम्भव ही नहीं था।

सामाजिक अन्याय के प्रति विद्रोह भावना तथा अनुशासनहीनता अथवा असहिष्णुता एक ही बात नहीं है। यह विद्रोह-भावना तो आन्तरिक विनम्रता रखकर, दूसरों की भावनाओं का सम्मान करते हुए भी, सम्भव है। प्रत्येक सभ्य समाज के लिये परमावश्यक शिष्टाचरण की उपेक्षा हमें कभी नहीं करना चाहिये।

हमारे अनेक नेता सत्य नहीं, सफलता चाहते हैं। वे अपनी रुचि के अनुकूल बनाने के लिये वास्तविकता में रंगामेंजी कर दिया करते हैं। हमने समूचे मनोविज्ञान का सफलता पूर्वक अध्ययन किया है तथा भोले-भाले आदमियों को धोखा देने में उसका प्रयोग करते हैं। विश्व-विद्यालय से निकलकर जब आप जीवन में प्रवेश करेंगे तो प्रायः उन बातों को कहेंगे जिनकी आपसे आशा की जाती है, उन्हें नहीं जो आपके सच्चे ख़याल हैं। यह आपका कर्तव्य होगा कि ज्ञानी तथा ख़तरनाक नेता में विवेक कर सकें, योग्य, विधायक, साहसी नेता में जिसकी दृष्टि भविष्य की ओर है एवं अपव्ययी, विनाशक, अतीत से चिपटे रहनेवाले नेता में अन्तर समझ सकें। बुड्ढे लोग समाप्त होंगे और उनकी स्थानपूर्ति आपको करना होगी।

राष्ट्र की विपत्ति के समय आपको अपनी योग्यता प्रदर्शित करने के लिये अद्वितीय अवसर मिलेंगे। गहन विचार एवं साहसपूर्ण प्रयास के साथ आपको स्वार्थ एवं अज्ञान से युद्ध करना होगा। देश प्रेम की भावना-तरंग में बहकर हम अन्य-निर्मित आदर्शलोक में जा पहुँचें यह असम्भव है। अनवरत श्रम एवं गहन विचार करके आपको उस नवयुग के स्वागत की तैयारी करना होगी। यदि आप उन आदर्शों का सदा ध्यान रक्खें जिन्हें आपके विश्वविद्यालय ने आपके सम्मुख रखा है तथा साहस और न्याय, सचाई और ईमानदारी का समर्थन एवं प्रचार करने में लग जायँ तो आप अपने देश को ऐसे समय धोखा देने से बच जायँगे जब उसे आपकी सेवा तथा उपदेश की आवश्यकता है। भविष्य ही बतावेगा कि आपको आराम और सुख पसन्द है अथवा सत्य और कष्ट; आपके विश्वविद्यालय ने आपमें साहस, निश्चय, आत्मत्याग के गुणों को विकसित किया है अथवा मिथ्याभिमानी बनाकर, अत्यधिक गौरव. आत्मतुष्टि, तथा आरामतलबी से भर दिया है जिससे किसी भी काम को करने में आप भय का अनुभव करते हैं। आप भारतवर्ष को अपने बन्धन काटने में सहायता देंगे अथवा उन्हें और भी मजबूती से कस देंगे? क्या आप अपने जीवन में यह सिद्ध कर सकेंगे कि जो लोग कहते हैं कि क्लेश एवं सेवा के जीवन की अपेक्षा सुख का जीवन ही आपको अधिक प्रिय है वे आप पर झूठा दोषारोपण करते हैं? भविष्य ही इसका निर्णय करेगा। विदा।

शिक्षा एवं नवीन लोकतंत्रवाद

अरस्तू का कथन है कि यदि किसी राष्ट्र को जीवित रहना है तो उसे अपने शासन-विधान के अनुकूल ही युवकों की शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी। इस कथन की पुष्टि के उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। राजनीतिक परिवर्तन प्रायः शिक्षा-विषयक परिवर्तनों से सम्बद्ध पाये जाते हैं। जिन विचारों की विजय इन दिनों, योरप एवं एशिया के देशों में हुई; वे अपनी स्थिति को शिक्षा-संस्थाओं में ही मजबूत बना रहे हैं। आज हमारी जनता के विचार एवं स्वभाव में एक बहुत बड़ा परिवर्तन हो रहा है। उनके हृदय में नवीन आशाओं का स्पन्दन है, उनकी आँखों में नूतन भविष्य का दर्शन। बड़े जोरदार शब्दों में घोषित किया जाता है कि सब को अधिकार है कि अपने भाग्य का निर्माण स्वयं करें। यह नवीन भावना

हमारे देश में फैल तो रही है पर अभी तक उसने हमारे सम्पूर्ण जीवन में प्रवेश नहीं कर पाया है। हमारी शिक्षा संस्थाओं में अभी तक इसकी विजय नहीं हो पाई है। यदि हमारे विश्व-विद्यालयों को सामाजिक नव जागरण का साधन बनना है तो उन्हें उन समस्त गम्भीर सामाजिक भेद-भावों को, जिनका समर्थन व्यवहार-परम्परा किया करती है; दूर बहा देना होगा एवं युवकों को नये जीवन के लिये तैयार करना होगा। जहाँ तक मैं समझता हूँ यह नई भावना मनुष्य जीवन पर बढ़ते हुये वैज्ञानिक प्रयोग तथा सामाजिक एकता की वृद्धि में सन्निहित है। इस प्रश्न की विशालता एवं इसकी सिद्धि के उपाय का ज्ञान आपके विश्वविद्यालय को है और उसका पता चलता है प्रयोगात्मक तथा औद्योगिक विज्ञान पर दिये जाने वाले ध्यान की वृद्धि से।

औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था करके आप विश्वविद्यालय के उचित आदर्शों को तिलाञ्जलि नहीं दे रहे हैं। जीविकोपार्जन के लिये तैयार करना, प्रकारान्तर से, जीवन के लिये तैयार करना है। आरम्भ से ही हमारे विश्वविद्यालयों के पाठ्य-विषयों पर सरकारी नौकरियों और बुद्धि-व्यवसायियों की आवश्यकताओं का प्रभाव पड़ता रहा है। यदि हम शब्द का व्यापक अर्थ लें तो हमारा झुकाव उद्योग की ओर सदा ही रहा है। योरोप के अनेक देश भी जैसे फ्रान्स और जर्मनी, बेल्जियम और डेनमार्क अपने नवयुवकों को जीवनोद्योग की शिक्षा

देने में लगे हैं। हमारे देश की बेकारी का एक प्रधान कारण कृषि एवं उद्योग में विज्ञान के प्रयोग का अभाव है। अभी उस दिन जब सूबे के आय-कर-विभाग में १३ स्थानों के लिये ४,००० प्रार्थना पत्र पहुँचे थे तो इस बेकारी समस्या की नैराश्यजनक अवस्था की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट हो गया था। विश्वविद्यालय-शिक्षा के प्रारम्भिक काल में स्नातक उस समाज का सदस्य समझा जाता था जिसे कुछ करना धरना नहीं रहता तथा सरकारी नौकरी पाने में जिसे अनेक सुविधायें हैं, और बदकिस्मती से, यह धारणा अब तक विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के मन में जमी हुई है कि उपाधि पा जाने के बाद वे या तो अच्छा राजकीय पद पा जायेंगे और या किसी बुद्धि-उपजीवी व्यवसाय में लग जायगें। ऐसे लोग भी जिनमें कानून तथा साहित्य, राजनीति तथा दर्शन आदि के सैद्धान्तिक अध्ययन के लिये नैसर्गिक योग्यता नहीं है, उन्हीं के अध्ययन में लग जाते हैं और वे मानसिक शक्तियाँ, जिनका उपयोग जनता के जीवन तथा आर्थिक दशा के सुधार में होना चाहिये, उन व्यवसायों में प्रविष्ट होने के व्यर्थप्रयास में बरबाद की जा रही हैं जो पहिले ही से भरे हैं। विश्वविद्यालयों से इतने ज्यादा आदमी निकल रहे हैं कि सब के सब नौकरियों में नहीं खप सकते और जब उनकी आशायें पूरी नहीं होतीं तो वे ऐसी दिशा में चल पड़ते हैं जिससे राष्ट्र को भारी खतरा है। विश्वविद्यालय के छात्र इस प्रकार एक कठिन सामाजिक समस्या बन गये

हैं। भारतीय विश्वविद्यालय भी जो दिमागी बातों पर ज़रूरत से ज्यादा ज़ोर देते हैं, बहुत कुछ, इस अवस्था के लिये ज़िम्मेदार हैं। हमारे यहाँ प्रकृति-विज्ञान, यंत्रशास्त्र, कृषि-शास्त्र आदि की शिक्षा का प्रबंध, जो भारतवर्ष के कल्याण के लिये परमावश्यक है, प्रायः नहीं के बराबर है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि औद्योगिक शिक्षा बेकारी के मसले को हल कर ही देगी। अब भी ऐसे पुरुष मौजूद हैं जो विदेश के विश्वविद्यालयों से उच्च औद्योगिक शिक्षा प्राप्त कर आने पर भी योग्यतानुरूप काम नहीं पा सके हैं। हमारे आर्थिक जीवन में औद्योगिक शिक्षा-प्राप्त पुरुषों की उन्नति के लिये काफ़ी अवकाश नहीं है क्योंकि बड़े पैमाने पर चलनेवाले कारखानों की संख्या यहाँ बहुत कम है। पर अपने आर्थिक जीवन की गिरी दशा के कारण हमें वैज्ञानिक एवं औद्योगिक शिक्षा की उपेक्षा नहीं करना है वरन् उसे और भी विकसित करना है। हमारे उद्योग-व्यवसाय कितने ही अविकसित क्यों न हों फिर भी वहाँ सामान्य-शासन, राजनीति एवं शिक्षा-विभाग आदि की अपेक्षा बहुत कम संख्या में ऐसे लोग काम की तलाश में आते हैं जिन्हें उचित शिक्षा मिल चुकी हो। इसके साथ ही, जिस परिमाण में सरकार पर लोक मत का ज़ोर बढ़ रहा है उससे, कोई सन्देह नहीं, कि उसे उद्योग धन्धों को बढ़ाने वाली नीति अवश्य काम में लानी पड़ेगी। ध्यान देने की बात है कि भारत में लगभग ७३ प्रतिशत लोग कृषि तथा उससे सम्बन्धित व्यवसायों पर आश्रित हैं जब

कि अन्य देशों में खेती पर निर्वाह करनेवालों की संख्या निम्न प्रकार से है—

देश	प्रतिशत
ब्रिटेन	१०·०
अमेरिका के संयुक्त राज्य	२२·०
जर्मनी	३०·५
फ्रांस	३८·३
कनाडा	३५·०

दूसरी ओर उद्योग-धन्धों पर निर्वाह करनेवालों का अनुपात भारत में ११-२ प्रतिशत है जब कि अन्य देशों का, इस सम्बन्ध में निम्नलिखित अनुपात है—

देश	प्रतिशत
ब्रिटेन	३९·७
अमेरिका के संयुक्त राज्य	२९·३
जर्मनी	३८·१
फ्रांस	३१·२
कनाडा	२६·६

बड़े खेद की बात है कि संसार के अन्य देश तो क्रमिक औद्योगिक विकास की नीति का अनुसरण करते रहे, पर भारतवर्ष में यह कुछ न हुआ। संसार के उन्नतिशील राष्ट्र उद्योग तथा व्यवसाय के मसलों को हल करने में लगे हैं। हमारे नेताओं का कर्तव्य है कि वे सरकार को इस बात पर राजी करें कि वह भी तानाशाही इटली अथवा साम्यवादी रूस की तरह एक सुनिश्चित एवं साहस-

पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को अपना ले। हमारा आर्थिक जीवन इतना सफल नहीं है कि हम इन अत्यन्त सुन्दर प्रयोगों की अवहेलना कर सकें। अपने स्वप्नों को सत्य करने के लिये साम्यवादियों ने जिन संस्थाओं एवं तरीक़ों की सहायता ली है हम भले ही उन्हें पसन्द न करें, किन्तु तो भी रूस के प्रयोग ने इतनी गम्भीर समस्या उत्पन्न कर दी है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। मध्यम वर्ग की बरबादी तथा निम्न वर्ग का घोर दरिद्रता में पतन ऐसे कारण हैं जिन्होंने अब से पहिले भी, महान् राष्ट्रों का विनाश-पथ प्रशस्त किया है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का बिलकुल हटा देना भले ही बुद्धिमानी का काम न हो, पर सम्पत्ति के स्वामियों के अधिकारों एवं जिम्मेदारियों में घोर परिवर्तन करने की आवश्यकता जरूर है। समाजवादी शासन-प्रबन्ध में राष्ट्र का जो महत्वपूर्ण स्थान है उसी का प्रचार इंगलैण्ड की तरह इटली में भी दिन दिन बढ़ रहा है।

यद्यपि विश्वविद्यालय का यह काम नहीं है कि वह खेती की उन्नति अथवा उद्योग-धन्धों की स्थापना करे फिर भी इन विषयों का अनुसन्धान वह कर सकता है और इस प्रकार देश के लिये उन विशेषज्ञों को उत्पन्न कर सकता है जिनकी; औद्योगिक विकास के लिये, बहुत बड़ी आवश्यकता है।

परन्तु अकेला वैज्ञानिक प्रयत्न हमें अधिक दूर नहीं ले जा सकता। आज सभ्यता को सब से बड़ा खतरा तो इस बात से है कि विज्ञान ने हमारी उत्पादन-शक्ति में जो

अपरिमित वृद्धि कर दी है उसका ठीक ठीक इस्तेमाल हमसे नहीं करते बनता। वैज्ञानिक शक्ति का जो घृणास्पद प्रयोग हम नित्य, विनाश के लिये कर रहे हैं, मालूम पड़ता है, उसका अन्त ही नहीं है। शक्ति के दुरुपयोग की सम्भावना आज १६१४ की अपेक्षा बहुत बढ़ गई है और यदि हमने मनुष्य के स्वभाव को बदल न दिया तो १६१४ की दुर्घटना की पुनरावृत्ति कहीं हमारी सभ्यता का पूर्ण विनाश ही न कर दे। हमारा भविष्य विज्ञान की प्रतिक्षण बढ़नेवाली शक्तियों पर उतना नहीं निर्भर है जितना इस बात पर कि हम उनका प्रयोग कैसा करते हैं। प्रकृति के ऊपर नियंत्रण तथा उत्पादन-शक्ति में वृद्धि के साथ ही साथ जो दूसरी ओर ग़रीबी और बेकारी बढ़ रही है उससे अनेकों ने यह सोचना शुरू कर दिया है कि हाथ से काम करनेवाले मजदूर मशीन इस्तेमाल करने में जिस भय का अनुभव करते हैं वह बे-बुनियादी नहीं है। लेकिन अपराध मशीन का नहीं, उसे इस्तेमाल करने वाले मनुष्य का है। विज्ञान हमें परिवर्तन सह सकने की ताक़त, अपने को स्थिति के अनुकूल बना लेने की ताक़त, निर्भ्रान्त निरीक्षण, विचारों की निश्छलता, और खुला हुआ दिमाग़ दे सकता है पर इतना ही तो पर्याप्त नहीं है। हमें कल्पना शक्ति को जगाना होगा तथा संसार में न्याय के साम्राज्य का वह दिव्य दर्शन हमें कराना होगा जिसे केवल दार्शनिकों और कवियों के स्वप्नों ने ही चित्रित कर पाया है। धर्म एवं सामाजिक व्यवस्था में विचार तथा क्रिया की सामान्य भूमि से ऊपर उठाने का

काम केवल यही कर सकता है। भावजगत् में श्रद्धा उत्पन्न करने वाले लोग सभ्यता को उतना ही विधायक एवं क्रियात्मक साहाय्य-दान करते है जितना विज्ञान के नेता एवं उद्योग के सरदार। वे लोग भी हमारा उपकार करते हैं जो एक नवीन समाजिक व्यवस्था का हमें दर्शन कराते हैं, जो केवल विज्ञानजात सभ्यता के अज्ञान तथा जंगलीपन से मुक्त होने में हमें सहायता देते हैं तथा जो जीवन-विभूतियों को वास्तविक, साकार, बनाते हैं। इस भावलोक में धर्म तथा दर्शन, सहित्य तथा कला हमारे सहायक हैं।

जिसने भी बुद्धि तथा विवेक से मौजूदा ज़माने को देखा है वह बिना यह पूछे नहीं रह सकता कि आख़िर उन प्रति पल बदलने वाले, बहुमुखी, जटिल परिवर्तनों का क्या अर्थ है जो हमारे जीवन के प्रत्येक अंग तथा क्षेत्र को प्रभावित कर रहे हैं। इस देश के लिखित इतिहास में ऐसी स्थिति का सामना पहले कभी नहीं करना पड़ा था। पिछले जीवन के किसी भी युग में हम इतनी आश्चर्योत्पादक विविधता एवं जटिलता से युक्त प्रभावों एवं घटनाओं के समुदायों से आक्रान्त कभी नहीं हुये—ऐसे प्रभाव तथा घटना-समूह जो हमारे भावों तथा विचारों को, आदर्शों तथा अभिलाषाओं को, तोड़े मरोड़े डाल रहे हैं, जो हमारे जीवन की आधार-शिला को ही हिलाये दे रहे हैं।

फ़िलहाल हमने यह मान लिया है कि राजनीतिक परिवर्तन सबसे अधिक महत्व के हैं। हमारी आँखें उत्तरदायित्वपूर्ण स्वराज्य पर गड़ी हैं। अंगरेज इस लक्ष्य तक बिना

किसी महान् अनवस्था अथवा कार्य्य-संचालन में हीनता लाये ही पहुँचना चाहते हैं; पर हम: स्वभावत: शीघ्रातिशीघ्र उसे प्राप्त कर लेना चाहते हैं; भले ही ऐसा होने में कुछ अव्यवस्था अथवा प्रबन्ध में गड़बड़ी आने की आशंका हो। हमारी तीव्र उत्कण्ठा तथा उनकी सतर्कता दोनों ही स्वाभाविक एवं बुद्धिगम्य हैं। मुझे सन्देह नहीं कि भारतवासियों के प्रबल स्वदेशानुराग एवं महान् देश-भक्ति प्रेरित आत्म-विसर्जन तथा क्लेश-सहन-तत्परता के कारण इस समस्या का कोई न कोई संतोषजनक समाधान शीघ्र ही निकल आवेगा। यह भी निश्चित है कि हम लोक-तंत्रवादी समाधान की ओर बढ़ रहे हैं। इसमें कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों न आवें—और सचमुच वे बहुत हैं—कोई दूसरा समाधान लोगों की श्रद्धा अथवा भक्ति को जाग्रत नहीं कर सकता। इस लोकतंत्र-शासन के विकास में सबसे बड़ी सहायता मिलेगी समय की गति से; घटनाओं के प्रभाव से एवं भिन्न-भिन्न समुदायों की नित्य बढ़नेवाली समान स्वार्थानुभूति से।

प्रजातंत्रात्मक संस्थायें अथवा लोकतंत्र के साधन ही अकेले काफ़ी नहीं हैं; प्रत्युत हमें अनायासलभ्य लोकतंत्र-भावना का भी समुचित आयोजन करना होगा। हमें लोक-मानस में एक-लक्ष्य एवं एक-भावना की वृद्धि करनी होगी जिससे लोग व्यक्तिगत अथवा समूहगत लाभ के विचार को छोड़कर सर्वहित की भावना को अपना सकें। लोकतंत्र मानता है कि सब तरह के लोग मिलकर ही संसार बनता

है। यह उस विनम्रता को भी सूचित करता है जो यह मानती है कि उन लोगों का भी अपना मूल्य है जिनकी अनुभूति एवं विचारधारा हमसे भिन्न हैं। हमारी कोई जाति अथवा भाषा, धर्म अथवा व्यवसाय क्यों न हो, देश के चरम कल्याण के लिये हम सभी की आवश्यकता है। लोक-तंत्र तो केवल सामाजिक भद्रता है।

जनता के बहुत बड़े भाग को मताधिकार मिल जाने से लोगों के हृदयों में सामाजिक मर्यादा एवं मनोविकास के अवसर प्राप्त करने के लिये अपरिमित आकांक्षायें जाग्रत् होंगी। दिखाने के लिये हम भले ही स्त्रियों तथा दलित वर्गों को उनके बन्धनों से मुक्त कर दें पर वास्तव में वे तब तक बद्ध ही रहेंगे जब तक हम ऐसा वातावरण नहीं तैयार कर देते जिसमें वे बौद्धिक स्वतंत्रता का उपभोग कर सकें। मैं आपको एक उदाहरण यह दिखाने के लिये दूँगा कि केवल वैधानिक परिवर्तन कितने व्यर्थ होते हैं। "संयुक्त राज्य अमेरिका के नागरिकों का मताधिकार संयुक्त राज्य अथवा किसी अन्य राज्य के द्वारा जाति, वर्ण अथवा पूर्वदासता के कारण न तो छीना ही जा सकता है और न कम ही किया जा सकता है।" आप सोच सकते हैं कि १८७० में संघ-विधान के १५ वें संशोधन में समाविष्ट उपर्युक्त नियम की अपेक्षा अधिक निश्चित अमेरिकन हबशियों के स्वतंत्र-मताधिकार-प्रयोग की व्यवस्था और नहीं हो सकती। फिर भी हम सब जानते हैं कि 'मूलभूत व्यवस्था' का इतना स्पष्ट नियम व्यवहार में बेकार सिद्ध कर दिया गया। राज-

नीतिक समानता अथवा वैधानिक व्यवस्था की केवल नियम-सम्मत घोषणा ही पर्याप्त नहीं है। राजनीतिक समानता की रक्षा केवल तभी सम्भव है जब उन सब सम्प्रदायों को जिन्हें मताधिकार प्राप्त है आत्मविकास के लिये उचित अवसर दिये जांय। महात्मा गांधी ने बड़े जोरदार शब्दों में हमसे अनुरोध किया है कि हम उन्नति के नवीन शिखरों का आरोहण करें, विकास के नूतन साधनों की खोज करें, तथा राष्ट्रीय पुनर्निर्माण, गौरव एवं सफलता के लिये नवीन मार्गों का उद्घाटन करें। हृदयों के मिलन का अनुरोध करके, उस साम्प्रदायिक एकता का प्रचार करके जिसके बगैर ताक़त सिर्फ धोखा और स्वतंत्रता केवल उपहास है, महात्मा गान्धी समाज की मूल तक जा पहुँचे हैं। हम जानते हैं कि उन्होंने अस्पृश्यता निवारण के लिये जो सन्देश दिया है उसका कितना विरोध किया जा रहा है। हममें से बहुतेरे रूढ़ियों के गुलाम हैं जो अनिश्चित एवं नवीन से घबराते हैं। जिन व्याधियों से हम पीड़ित हैं उनमें से अधिकांश तो भले स्त्री-पुरुषों के छलहीन विश्वासों से ही उत्पन्न हुई हैं। हमारे विश्वविद्यालयों में भी कुछ ऐसे सज्जन हैं जिनका नूतन के प्रति एक प्रकार का उदार अविश्वास है। रूढ़ि-भक्ति एक आत्म-रक्षक गुण है जिसका उपयोग हम अपनी नालायक़ी तथा बेवकूफ़ी को सुरक्षित रखने के लिये करते हैं। हम धर्मान्ध व्यक्ति पर दोषारोपण नहीं कर सकते, पर हमें उन सब मानसिक एवं आध्यात्मिक कारणों को दूर कर देना होगा जो धर्मान्धता को लोकप्रिय बनाते हैं।

धर्म का प्रतिक्रियाशील होना ही ऐहिकवाद की उन्नति के लिये जिम्मेदार है। धर्म ने अपने दुर्भाग्य की रचना स्वयं ही की है। जिज्ञासा का दमन एवं परिवर्तन का अन्ध प्रतिरोध इसे सबका संदेह भाजन बनाये हुये है। यह कुछ भारतीय धर्मों की ही विशेषता नहीं है। बाइबिल की 'प्राचीन धर्मपुस्तक' के सुदूर अतीत में डेविड ने समझा था कि गणना करके उसने "महान् पाप" किया था (सैम्यु-२-२४) किन्तु उसके अनुयायियों को आज मालूम है कि उसका भय कितना निराधार था। गत शताब्दी के लोग सन्तान-निग्रह को ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध बताकर उसकी निन्दा किया करते थे। वही युक्तियाँ आज सन्तानोत्पादन-विज्ञान एवं सामाजिक स्वास्थ्य-रक्षा में प्रयुक्त नूतन पद्धतियों के विरोध में दी जा रही हैं। समाचार पत्रों में एक संवाद छपा था कि नेपिल्स के प्रधान पादरी ने भरी सभा में कहा है कि इटली में जो नया भूकम्प आया है जिसमें अनेक भाग्य-हीन पुरुषों को प्राणों से ही हाथ धोना पड़ा वह, वास्तव में, स्त्रियों की अश्लील-वस्त्रधारण-प्रणाली के खिलाफ़ ईश्वर-प्रदत्त दण्ड था। समझ में नहीं आता कि हमारे धर्माध्यक्ष ने कैसे निश्चित कर लिया कि यह कोप तानाशाही पर न होकर स्त्रियों पर ही था। अस्पृश्यता-निवारण का जो विरोध हो रहा है उसमें दी हुई युक्तियों का आधार इससे अधिक दृढ़ नही है और वे धार्मिक विश्वास जो ऐसे मामलों में आज हमें बहुत परेशान किये हुये हैं, थोड़े ही दिन बाद, किसी मानसिक रोग से अधिक महत्व के न रह जाँयगे।

हमारा युग अनिस्थिरता एवं अनवस्था का युग है। परम्परा से चली आने वाली रूढ़ियों का जबर्दस्त विरोध हो रहा है; पुराने किले ढह रहे हैं; हम पर नवीन प्रभावों की वर्षा-सी हो रही है। आधारभूत सिद्धांतों में क्रांतिमूलक पुनर्व्यवस्था की अत्यंत आवश्यकता है। यदि हमें व्यावहारिक जीवन तथा राजनीतिक क्षेत्र में एक समुचित, स्वतंत्र पद्धति की स्थापना करनी है तो हमें अपनी संस्कृति के सुदूर अतीत की ओर दृष्टिपात करना होगा एवं अपने देश की विचार-धारा का पता लगाना होगा, उन अस्पृश्य शक्तियों एवं अदृश्य माहात्म्यों को मालूम करना होगा जो सदियों से चले आ रहे हैं। हमारी वर्तमान जीवन-व्यवस्था, वह कितनी ही कठोर, सख्त हो, वहीं से आई है। हमारे कुछ नेता सुधार-विरोधियों की उद्धत धृष्टता से तंग आकर भले ही यह अनुभव करने लगे हैं कि अतीत उन्नति पथ का रोड़ा है; वह हमारी स्मृति में बाधा डालता है, ध्यान को विचलित करता है एवं वर्तमान की उपादेयता को प्रायः भली भाँति देखने नहीं देता। अतीत का भार ही सचेष्ट वर्तमान से हमारा विच्छेद कराता प्रतीत होता है। यद्यपि कभी कभी पिछली बातों का भूल जाना आवश्यक हो जाता है परन्तु अतीत से सर्वतोभावेन सम्बन्ध विच्छेद कर लेना सम्भव नहीं। यदि हम ऐसे लोगों से परिचित हैं जिनकी स्मृति नष्ट हो चुकी है, तो सरलता से हम यह समझ सकेंगे कि अतीत से पूर्ण विच्छेद हमारे दैनिक जीवन में कितनी व्याकुलता, कितनी शक्ति-हीनता, का संचार कर

देता है। स्मृति खोकर आदमी अपने ही को, अपने व्यक्तित्व को, खो देता है। जो बात व्यक्तियों के सम्बन्ध में ठीक है वही जातियों के सम्बन्ध में भी सत्य है। जिस प्रकार पश्चिमी राष्ट्रों ने, नवजागृति के समय, प्राचीन सांस्कृतिक सम्पत्ति को अपनाकर अपना चोला ही बदल दिया है ठीक उसी प्रकार हमें श्रम-साध्य पथ का अनुसरण करना होगा एवं अपने इतिहास एवं दर्शन से नवजागृतिकालीन योरोपीय जातियों की मानसिक अवस्थाओं के समकक्ष मानसिक दशाओंका सार खींच लेना होगा। दूसरे देश में, भिन्न परिस्थितियों के फलस्वरूप विकसित सभ्यता हमारी अपनी सभ्यता कभी नहीं हो सकती। अपनी संस्कृति को उर्वर बनाने के लिये हमें प्रत्येक नूतन प्रयास को अपने अतीत से सम्बद्ध कर लेना होगा, पाश्चात्य विज्ञान के भाव अथवा पद्धति को ग्रहण करना होगा, उनके निष्कर्षों को नहीं। केवल इसी प्रकार हम संसार के समवेत ज्ञान-भण्डार को विशिष्ट भारतीय सहायता दे सकते हैं।

अतीत का ऐसा विवेचनात्मक ज्ञान एवं नवीन तथा प्राचीन का सफल समन्वय केवल तभी सम्भव है जब अतीत श्रद्धा को हम समीक्षा के द्वारा संयमित किये रहें। हम में से अनेक शिशु-सुलभ आत्म-गौरव-भावना ग्रंथि के शिकार रहते हैं और यह भूल जाते हैं कि सामुदायिक मानवता की हमें उतनी ही आवश्यकता है जितनी व्यक्तिगत विनम्रता की। इस प्रत्यक्ष सत्य की अवहेलना कैसे की

जा सकती है कि आज हम भग्नोत्साह, हीनशक्ति एवं संसार से व्याकुल हैं। अतीत के प्रभावों को कम करना नितान्त आवश्यक है। अर्वाचीन जगत् में प्राचीन-जीवन-व्यवस्था को पुनरुज्जीवित नहीं किया जा सकता। टूटे फटे टुकड़ों के सौंदर्य के लिये व्यर्थ रो रोकर घुलने अथवा नूतन जीवन-प्रवाह से दूर हटकर मनोयोगपूर्वक, अतीत की उत्कृष्टता के प्रशंसा-गान से कोई लाभ नहीं। हमें जीवन-सम्बन्धी प्राचीन आदर्शों को लेकर नये उद्देश्यों में बदल देना है। हमें उस अन्तःस्थित मूल को, उस प्रच्छन्न भावना को, मजबूती से पकड़ लेना है जिसका यद्यपि ठीक ठीक वर्णन तो नहीं किया जा सकता किन्तु फिर भी जो प्रतिपल बदलने वाली परिस्थितियों में नित्य है, शाश्वत है। यदि इस भावना में कुछ भी शक्ति है तो जैसे जैसे समय बीतता जायगा उसमें विकास होता जायगा, उससे नये आदर्शों की सृष्टि एवं नवीन ज्ञान का विस्तार होगा। यदि हमने उसे न छोड़ा तो हम जीवन के श्वासावरोधक जटिल जाल से अपने को मुक्त कर सकेंगे तथा व्यक्तिगत स्वाधीनता एवं विकास को प्राचीन अन्ध विश्वासों के द्वारा कुंठित किये जाने से बचा सकेंगे। भारतीय इतिहास के विवेचक विद्वानों को एक नवीन आशा एवं नूतन प्रेरणा उन सभी लोगों का देना है जिनका मध्यकालीन वातावरण के कारण दम घुट रहा है। यदि मानव हृदय को जकड़े रहने वाली जंजीरें कुछ ढीली पड़ीं तथा उनकी बाधक एवं बन्धक शक्ति कुछ क्षीण हुई तो विद्यालय की दलबन्दी

एवं दम्भ छोड़कर प्राचीन काव्य का अध्ययन करना होगा और विचारों की क्रीड़ा के लिये स्वतंत्र अवसर देना होगा। इस उद्देश्य में वे कभी सफल नहीं हो सकते यदि वे स्वयं जीवन तथा रचना-शक्ति से पूर्ण नहीं हैं।

विश्व-विद्यालय का कर्तव्य केवल सिद्ध विद्वानों की ही रचना करना नहीं वरन् नये लोकतंत्र के लिये नेताओं की सृष्टि करना भी है। लोक-तंत्र कुछ निम्न श्रेणी के मनुष्यों के समूह का अथवा केवल चुनाव जीतने वाले दल का, शासन नहीं है वह बहुमत से दबजाने का अथवा एकाधि-पतियों की आज्ञापालन का नाम नहीं है। लोकतंत्र की सर्व-श्रेष्ठ परिभाषा मैजिनी ने यह दी है, कि "लोकतंत्र सबसे अधिक बुद्धिमान तथा भले व्यक्ति के नेतृत्व में सबके द्वारा सब की उन्नति का नाम है।" "सबसे अधिक बुद्धिमान् तथा भले." केवल उच्चवंशीय ही नहीं। हमें ऐसे नेताओं की जरूरत है जो अपने नेतृत्व की रक्षा के लिये ही नहीं व्याकुल रहते हैं किन्तु जो सत्य भाषण कर सकते हैं तथा हमारे प्रश्नों का ठीक हल ढूँढ़ने में हमें पथ-प्रदर्शन करते हैं। अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षित लोकतंत्र में एक बहुत बड़ा मोह इस बात का रहता है कि ऊँचे ऊँचे पदों पर विधान-पटु, राजनीति-कुशल, अथवा वैभवशाली पुरुषों को नियुक्त कर दिया जाय। इस भय से बचना तब तक सम्भव नहीं जब तक जनता में बुद्धि तथा योग्यता, समाज-भावना एवं स्वतंत्रता नहीं जाग जाती—वे गुण जो आज्ञा देकर किसी में नहीं उत्पन्न किये जा सकते।

विश्वविद्यालय हमें संयत-साहस-सम्पन्न पुरुष दे सकते हैं, ऐसे पुरुष जो वास्तव में मार्ग दिखा सकें केवल लोक-मत की व्याख्या ही हमारे सम्मुख न किया करें। इस संकट काल में आत्मरक्षा की चिन्ता करने, भय-रहित पद-प्राप्ति की खोज करने अथवा श्रमरहित व्यवसाय की चाह करने से काम नहीं चलेगा। यदि आप उनकी अभिलाषा करेंगे तो निश्चय ही आपको निराश होना होगा। आपको परम्परा-सम्मानित विचारधारा से बाहर निकलकर परिस्थितियों का सामना करना होगा तथा प्रत्येक उचित कार्य करने के लिये सदा तैयार रहना होगा। युवक यदि कंकाल मात्र ही नहीं शेष रह गया है अथवा परिवर्तनात्तम शिला नहीं बन गया है तो वह अपने विचारों तथा कामों को सदा ही साहस से युक्त रखता है। मेरे नौजवान दोस्तो, तुम्हारे लिये मेरा यही संदेश है कि युवक-भावना की रक्षा किये रहो; साहसपूर्ण तथा निर्भीक जीवन बनाये रहो। उस सामाजिक साम-ञ्जस्य एवं विकास के लिये अपने को तैयार करलो जिसके, अपनी शक्ति के अनुसार, तुम विधाता हो सकते हो। भारत-वर्ष का परम प्राचीन धर्मग्रन्थ ऋग्वेद हमारे लिये सामाजिक एकता की आवश्यकता पर ज़ोर देता है, इस बात पर जोर देता है कि लोककल्याण के लिये-व्यक्तिगत स्वार्थ-भावना का परित्याग करना होगा।

"संगच्छध्वं, संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्"

(तुम साथ साथ चलो, एक साथ बात करो, एक दूसरे की बातों को समझो)—

"समानी व आकुति : समाना हृदयानि वः
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।"

(तुम्हारा निश्चय एक हो, तुम्हारे हृदय एक हों, तुम्हारे मन एक हों जिससे तुम्हारा समाज सुखी रहे ।) ऋग्वेद १०—१९१—२,४ विदा ।

लोकतंत्र तथा तानाशाही।

शिक्षा एवं अनुसन्धान की व्यवस्था करने के साथ ही नेता तैयार करना भी विश्वविद्यालय का एक मुख्य कर्तव्य है। हममें नैतिकता की कमी नहीं; उदारतापूर्वक, तटस्थ भाव से हम विचार भी कर सकते हैं। पर ये शक्तियाँ, हमारे पथदर्शकों के प्रमाद के कारण, कुछ अस्वाभाविक रूप में अभिव्यक्त हो रही है। उन विद्वानों का उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है जो हमारे बाह्य एवं अन्तर्जगत् के नैसर्गिक नेता हैं। आज आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में विरोधी और पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता से पूर्ण विचारों का संघर्ष हो रहा है। संसार भर के राजनीतिज्ञ उनमें बुरी तरह उलझे हुये हैं। अतएव एक महत्वपूर्ण समस्या सामने आ गई है। जिन मसलों को हमें हल करना है वे व्यक्ति एवं सम्पूर्ण मनुष्य जाति दोनों ही के लिये खास अहमियत

रखते हैं। विश्वविद्यालयों का धर्म है कि मनुष्य के आचरण अथवा विचारों में जो कुछ भी श्रेष्ठ, उत्तम, रहा है उसका संचय एवं वितरण करें अतएव इस समस्या ने सामाजिक व्यवस्था के मूलसिद्धान्तों से सम्बन्ध रखने वाले जिन नैतिक प्रश्नों को उठाया है उनसे विश्वविद्यालय बहुत प्रभावित हुये हैं।

मैज़िनी ने लोकतंत्र को "सर्वोत्तम ज्ञानी के नेतृत्व में सबके द्वारा सब की उन्नति" का साधन बताया है। यदि जनता में इतना ज्ञान नहीं है कि वह बुद्धिमान, ज्ञानी, नेता चुन सके तो ऐसा लोकतंत्र असफल ही रहेगा। वर्तमान नेताओं में न बुद्धि है और न ज्ञान। सन्देह और स्वार्थ उनके प्रधान गुण हैं। मुनाफ़ाखोरों का लोभ, जनता की उदासीनता तथा पण्डित कहलाने वालों की गुलाम मनोवृत्ति, इन नेताओं के सब से बड़े सहायक हैं। हमारा मतलब उन पण्डित कहलाने वाले लोगों से है जो अन्याय का समर्थन करते हैं यद्यपि उनका धर्म उसे मिटाना है। इन नेताओं को मानव-जीवन के उद्देश्य का स्पष्ट ज्ञान नहीं। वे अपनी योजनाओं को अपने साथी मनुष्यों के जीवन से बढ़कर प्यार करते हैं। अपने को सही साबित करने के लिये उन्हें लाखों आदमियों को मृत्यु के मुख में भेजते हुये रत्तीभर संकोच नहीं होता। जिस प्रकार भी हो सके उनके अपने विशिष्ट उद्देश्यों की सिद्धि होनी चाहिये, भले ही प्रयुक्त साधन बर्बर अथवा अमानुषिक हों।

आज हम इस भयानक अमंगलकारी उपद्रव को देख रहे हैं

कि कुछ उन्नत राष्ट्र, जिन्हें उच्च सभ्यता का समानार्थक समझा जाता है, विचार-हीन निश्चय के साथ ऐसे काम कर रहे हैं जो केवल उनके अपने धर्म की आज्ञाओं के ही विरुद्ध नहीं हैं वरन् मनुष्यता एवं साधारण न्याय के भी विरुद्ध हैं। योरोप के बहुत बड़े भाग में उस लोकतंत्र को भी आज जलाञ्जलि दे दी गई है जिसे बहुत समय तक लोग राजनीति के लिये योरोप का सबसे बड़ा दान समझते थे। प्रजातंत्र-शासन समाप्त हो गया है, प्रेस का मुँह बन्द कर दिया गया है, मिलने की, बोलने तथा विचार करने की आज़ादी छिन गई है, सामाजिक जीवन के साधारण शिष्ट-व्यवहार, मनुष्य को पशु जीवन से ऊपर उठानेवाली रस्में, पारस्परिक स्नेह एवं विश्वास आदि सबको उन लोगों ने धो बहाया है जो क़ानून का सम्मान नहीं करते एवं जो मनुष्यता के साधारण कर्तव्यों को भी स्वीकार नहीं करना चाहते। तानाशाहों का उत्साह किसी भी बाधा से मन्द होता नहीं दिखाई पड़ता, अपने राजनीतिक विरोधियों की सावधानी से षड्यंत्र रचकर, पूर्व संकल्पानुसार हत्या कर देने में भी उन्हें संकोच नहीं होता। हमारी सरकारें आर्थिक विषमता के मसले को न्याययुक्त, उचित ढँग से हल करने में स्पष्टतः अयोग्य सिद्ध हुई हैं अतएव लोग प्रजा-तंत्र से असन्तुष्ट हो गये हैं और इसी असन्तोष के फल-स्वरूप तानाशाहों को शक्ति मिल गई है। व्यापार में निर्बाध स्वतंत्रता के कारण मनुष्य मनुष्य का शोषण करने में सफल हुआ है। एक ओर आर्थिक समता की माँग बढ़ी, दूसरी

और उस माँग का विरोध उन लोगों ने करना शुरू किया जिनका अपना लाभ इस आर्थिक वैषम्य को बनाये रखने में ही था। फलतः वर्गों का संघर्ष बढ़ चला। निजी तौर पर चलने वाले बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों पर सरकारी नियंत्रण अवश्य बढ़ा पर उतना शीघ्र नहीं जितना चाहिये। अतएव आर्थिक उद्योग राजनीतिक संरक्षकता में आगया। लोकतंत्र-सम्मत शान्तिपूर्ण विकास का स्थान, बलवती क्रान्ति ने ले लिया।

इस प्रकार सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन में बल-प्रयोग ही मुख्य सिद्धान्त बन गया। यदि व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर बंधन लगाये जा रहे हैं और यदि पूर्ण, तुष्टि-कर, भद्र जीवन को उचित अवसर नहीं दिया जा रहा है तो केवल इसीलिये कि आर्थिक न्याय एवं रक्षा के लिये यह मूल्य चुकाना ही होगा। अनेक देशों में यह मूल्य चुकाया जा चुका है पर वे अपने उद्देश्य की प्राप्ति में अधिक सफल नहीं हो सके हैं। इस नई गुलामी ने भी उनकी आर्थिक रक्षा एवं न्याय की समुचित व्यवस्था नहीं की।

राजनीतिक एवं आर्थिक अव्यवस्था से भरे इस संसार में, स्वार्थपूर्ण एवं शंकाशील गुटों ने बाहर से आने वाले माल पर भारी भारी कर लगा दिये हैं जिसके कारण स्वभावतः पारस्परिक वैमनस्य एवं प्रतिद्वन्द्विता बढ़ रही है। एक विरामहीन, अन्तहीन, आर्थिक युद्ध चल रहा है। जो लोग घरेलू झगड़ों में बल-प्रयोग उचित मानते हैं, वे

वैदेशिक मामलों में भी उसका प्रयोग करते नहीं हिचकिचाते। आज रण-धर्म की उन्नति हो रही है। शक्ति को ही न्याय बतानेवाले सिद्धांत का मान आज से बढ़कर पहले कभी नहीं हुआ। हमारे तानाशाह तलवार नचाने वाले तथा झूठे भय का प्रचार करने वाले व्यक्ति हैं। बड़ी बड़ी सेना तथा युद्ध-सामग्री को क़ायम रखने के लिये वे निरीह मनुष्यों का खून एवं पसीना बहाते हैं। राष्ट्रों को रक्त एवं शस्त्रास्त्रों का भोजन देकर जीवित रक्खा जा रहा है। इटली समस्त जाति को सैनिक बना देने में लगा है। इटली के बच्चे शारीरिक, मानसिक तथा फौजी सभी तरीक़ों से शस्त्र व्यवसाय के लिये तैयार किये जा रहे हैं। जर्मनी, आस्ट्रिया रूस, फ्रांस यहाँ तक कि इंगलैण्ड भी, युद्ध के लिये शीघ्रतापूर्वक तैयार हो रहे हैं हालांकि उनकी सरकारें बराबर यह घोषित कर रही हैं कि हमारी इच्छा शान्ति बनाये रखने की है। कामंस सभा में हवाई खर्च की बढ़ी हुई माँग का समर्थन करते हुये बाल्डविन ने कहा था कि भविष्य में हमें अपनी सीमान्त रेखा डोवर के श्वेत शिखरों को नहीं, राइन के बायें किनारे को समझना होगा। किसी को नहीं मालूम कि बाल्डविन का अभिप्राय क्या था। बाल्डविन खुद उसे जानता है या नहीं इसमें भी संदेह है। पर फ्रांस ने उसका यह अर्थ लगाया कि इंगलैण्ड फ्रांस के साथ सैनिक सन्धि करनेवाला है और सदा ही वे बाल्डविन के उक्त कथन को उद्धृत कर सकते हैं।

चारों ओर विध्वंसक शक्तियाँ एकत्रित हो रही हैं। योरोप

के राष्ट्र कल्पनातीत भयानकता से युक्त युद्ध की तरफ़ क़दम बढ़ाये जा रहे हैं। अगला युद्ध अधिकतर आकाशी युद्ध होगा और वह पिछले किसी भी युद्ध की अपेक्षा कहीं अधिक निर्दय, विवेकहीन अकच विनाशकारी होगा। सभी मानते हैं कि हवाई हमले से बचने का कोई उपाय नहीं; हाँ उसका जवाब दिया जा सकता है। किसी सेना के आक्रमण को, उसके विरोध में एक बहुत बड़ी सेना खड़ी करके, रोका जा सकता है। यही नौ सेना के घेरे से बचने के लिये भी सच है। पर बम बरसाने वाले वायुयानों के आक्रमण से बचने का कोई निश्चित, विश्वसनीय, साधन नहीं। हमारी हवाई फ़ौज कितनी ही बड़ी क्यों न हो उससे बहुत छोटी फ़ौज भी हम पर वार कर सकती है— हमारी सामान्य जनता को, बच्चों-बुड्ढों को, स्त्री-बालकों को, अस्पतालों एवं शिशुशालाओं को, सीधा सीधा बम से उड़ा दे सकती हैं। इसका एक ही प्रतिकार हो सकता है—प्रति-शोध। शत्रु आकाश से विस्फोटक पदार्थ, विषैली गैस, एवं रोग के कीड़े बरसा कर उसका जवाब दे सकता है। पेरिस जर्मनी के हवाई हमले से अपनी रक्षा नहीं कर सकता तो न सही; कम से कम बर्लिन पर बमवर्षा तो कर सकता है और उसकी शक्ति का यह ज्ञान जर्मनी को सीधा बनाये रख सकता है। किन्तु यह भी सच है कि हवाई युद्ध में विजय उसी की होगी जिसका आक्रमण पहले होगा। अगले युद्ध से यदि हमारी सभ्यता एक दम विनष्ट नहीं भी हुई तो कम से कम हम बर्बरतायुग में अवश्य एक बार फिर जा

पहुँचेंगे। संसार अपने को सभ्य कहता है। यद्यपि विज्ञान तथा व्यवस्था के क्षेत्र में इसने बहुत काम किया है; साहित्य तथा दर्शन, धर्म तथा कला की पर्याप्त उन्नति एक ज़माने से हो रही है, फिर भी आज हम एक ऐसी परिस्थिति में आ पड़े हैं जिसमें हमारी दशा निःसहाय बालकों की सी होगई है और यदि शीघ्र ही इसका प्रतिकार न किया गया तो यह निश्चय ही हमारी सभ्यता का विनाश कर देगी। एक जन-द्वेषी दार्शनिक का कहना है कि मनुष्य वास्तव में मनुष्य सदृश पर मानवेतर श्रेणी का प्राणी है जिसे अपने को बहुत बड़ा समझने का रोग होगया है। शायद उसका कथन ठीक ही हो।

यह विषम समस्या इतनी मूर्खता-पूर्ण है, पर साथ ही परिणाम में इतनी गम्भीर तथा भयानक भी है कि इससे सभ्यता का सत्तानाश भी हो सकता है। मानव जाति को अब उस गढ़े से बाहर निकालना ही होगा जिसमें युगों से पड़ी वह सड़ रही है तथा उसे एक नया मार्ग दिखाना होगा। कोई भी समाज अपनी ही गति से आगे नहीं बढ़ सकता, उसे तो, मैथ्यू अरनाल्ड के शब्दों में, कुछ थोड़े से लोग ज़बर्दस्ती आगे को ढकेलते हैं और ये थोड़े से लोग उन कतिपय व्यक्तियों से प्रेरणा प्राप्त करते हैं जो श्रेष्ठ ज्ञानी हैं, जिनमें सूझ तथा ज्ञान है, साहस तथा शक्ति है। सभ्यता को ऊपर उठाने में वही लोग वास्तविक सहायक हो सकते हैं जो राष्ट्रीय वातावरण से ऊपर उठ जाते हैं; जिन्होंने कल्याण को, वह प्रकट हो अथवा प्रच्छन्न, भली भाँति

समझा है, एवं जो वर्तमान समाज पर अपने भविष्य-दर्शन की छाप लगा जाते हैं। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के पिछले अधिवेशन में महात्मा गान्धी ने जो विदा होते समय सन्देश दिया था यदि उसकी तुलना हम आजकल के राजनीतिक नेताओं की युद्ध-घोषणा तथा उनके क्षुब्ध हृदय के उद्गारों से करें तो ऐसा प्रतीत होगा जैसे गम्भीर अन्धकार से ढँके संसार में स्वर्गीय प्रकाश रेखा भूल से आ पड़ी हो। "हिंसा के द्वारा मिला स्वराज्य मैं कभी स्वीकार नहीं करूँगा।" उनके हृदय में भारतीय स्वाधीनता की प्रबल लालसा है, उसकी प्राप्ति के लिये उद्योग करनेवालों में उनका सर्वोच्च स्थान है, फिर भी उनका कहना है कि स्वाधीनता हमें कितनी ही प्रिय क्यों न हो अहिंसा एवं सत्य उससे भी अधिक प्रिय हैं। अपने साथी कांग्रेस कार्य्यकर्ताओं के लिये उनका आदेश है कि नैतिक उत्तरदायित्व समझने की सूक्ष्म बुद्धि तथा मनुष्यों के प्रति आदर-भाव का अपने में विकास करो। राजनीतिक संग्रामों में इतनी उदारता और कहीं खोजे भी न मिलेगी। उनकी आज्ञा है कि प्राकृतिक क्रिया होने से राजनीति में जो ससीमता तथा सापेक्षता आगई है हमें उससे ऊपर उठ जाना है एवं अपने में उस शक्ति का विकास करना है जिससे हम निरपेक्ष सत्य को समझ सकें तथा निरपेक्ष कर्त्तव्यों का पालन कर सकें, जिससे हम उन सब बातों को भलीभाँति जान सकें जिन्हें हम युक्ति, धर्म्माधर्म-विवेक-बुद्धि, सत्य, अथवा स्नेह आदि भिन्न भिन्न नाम दिया करते हैं। इतिहास में

वर्णित महान् विकास पर जब हम सूक्ष्म दृष्टि डालते हैं तो हमें पता चलता है कि विचारों में कितनी शक्ति होती है। कितना ऊँचा यह विचार है जिसे महात्मा गान्धी लोगों के हृदयों तथा मनों में अङ्कित कर देना चाहते हैं। वह हमसे अनुरोध करते हैं कि नीति तथा धर्म की नींव पर एक नये भारत का निर्माण करने के लिये—राष्ट्रीय नव निर्माण, सफलता तथा श्रेष्ठता को प्राप्त करने के लिये—हमें नये साधनों को ढूँढ़ना चाहिये, तथा नये मार्गों की उद्भावना करनी चाहिये। राष्ट्रीय राजनीति की तुलना में सर्वव्यापक सत्य को ऊंचा स्थान देकर उन्होंने एक ऐसा दीपक जला दिया है जो सहज में बुझ नहीं सकेगा। उसका प्रकाश बहुत दूर तक फैलेगा एवं बहुत समय तक टिकेगा। संसार के सच्चे, ईमानदार आदमी उसे देखेंगे तथा उसका स्वागत करेंगे। महात्मा जी का उपर्युक्त अनुरोध केवल पेरीकिलीज, सिसरो, वाशिंगटन अथवा लिंकन जैसे महान राष्ट्रीय नेताओं की वक्तृताओं के ही सदृश नहीं है, वरन महान धर्म सुधारकों के व्याख्यानों के समान है, वह मनुष्यों अथवा राष्ट्रों की कल्याण-चिन्ता में निरत मानवता की अमर वाणी है।

'महा-पुरुष'-सम्बन्धी गवेषणा भी एक काफ़ी पेचीदा मसला है जिसे संसार के विद्वानों ने मिलकर बिल्कुल पहेली बना दिया है। चीन के बौद्धिक लोकतंत्र ने इसकी जो व्याख्या की है वह हमारे कानों को खटकने वाली है। उसका कहना है कि प्रत्येक 'महापुरुष' एक सामाजिक संकट

है। महात्मा गान्धी के सम्बन्ध में भी अगर कुछ लोगों की ऐसी ही धारणा बन गई है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है यद्यपि ऐसा मानने वालों की संख्या अब क्रमशः घट रही है।

त्याग शक्ति का ही नाम संस्कृति है। व्यक्तिगत अथवा सामुदायिक स्वार्थ के नियंत्रण को, शान्तिपूर्ण सहयोग को, त्याग कहते हैं। संसार की वर्तमान कठिन परिस्थिति का कारण यह है कि भिन्न भिन्न राष्ट्रों में न्याय तथा समानता के आधार पर संगठित पारस्परिक सहयोग का अभाव है। आज की अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का एक प्रधान कारण वर्सेल्स की दुर्घटना है जहाँ बदमिजाज, असन्तुष्ट जातियों की सृष्टि की गई। महान् आत्माभिमानी जातियों को, वह पूर्वी हों अथवा पश्चिमी, अन्तहीन असम्मान एवं बन्धन में डाले रखकर हम शान्ति की आशा नहीं कर सकते। वाम-शीलता अथवा जनविद्वेष की सीमा तक पहुँचने वाली उत्साह-वर्द्धक भाषा में वाल्टेयर ने कहा था—"मनुष्य समाज की ऐसी दशा है कि यहाँ अपनी उन्नति चाहने का अर्थ अपने पड़ोसी की अनिष्ट कल्पना करना है।" अगर आज भारतवर्ष स्वराज्य चाहता है तो इसका यह अर्थ तो नहीं है कि वह किसी दूसरे के प्रति अन्याय करने जारहा है। आज अंग्रेज एक असमंजस में पड़ गये हैं, वे दुहरा लाभ उठाना चाहते हैं। लोकतंत्र तथा आदर्शवादिता के यश को खोना नहीं चाहते पर साथ ही स्वार्थ एवं प्रबल यथार्थवाद की ममता भी छूटती नहीं। व्यक्तियों की ही भाँति राष्ट्र भी मानव इतिहास में चिरस्थायी प्रभाव

छोड़ जा सकते हैं यदि वे अपने निकट स्वार्थ का परित्याग करके उच्च आदर्श का पालन कर सकें। लोगों को यह कहने का अवसर नहीं मिलना चाहिये कि भाग्य ने भारत का भार अंग्रेजों के कन्धे पर डाल दिया था; पर अंग्रेजों ने, भाग्य से बदला लेने की भावना से, उसे फिर उसी के मत्थे पर मढ़ दिया। संसार-शान्ति एवं ब्रिटिश गौरव की रक्षा के लिये, आशा है, उदार एवं शान्ति-प्रिय वर्ग के अंग्रेज इस तथ्य को हृदयंगम कर लेंगे कि अब घर के बूढ़ों की हुकूमत का पुराना ज़माना खतम हो चुका है तथा कोई भी साम्राज्य तभी क़ायम रह सकता है जब वह साझे का कारबार बन जाय जिसे स्वतंत्र राष्ट्र, अपनी मरज़ी से, मिल कर चलावें।

जब हम यह कहते हैं कि हमें उसी प्रकार के शासन में रहना पड़ता है जिसके योग्य हम सचमुच हैं तो उसका अर्थ यह होता है कि कोई भी राज्य नागरिकों की अपेक्षा अधिक गुणशाली नहीं हो सकता। सामाजिक हृदय एवं राजनीतिक व्यवस्था में प्राकृतिक सम्बन्ध है। यदि शासन, जनता का प्रतिनिधि बनकर, टिकाऊ होना चाहता है तो उसे अधिक न्याय-सम्मत सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता होगी। जो समाज अस्पृश्यता जैसी घृणित रूढ़ि को सहन कर सकता है वह सभ्य कहलाने का अधिकारी नहीं। किसी भी ईमानदार, परिश्रमी, तथा योग्य आदमी को अपने चरित्र, बुद्धि एवं गुणों के अनुकूल पद पा सकने में कोई बाधा नहीं होना चाहिये। सामाजिक जीवन की पूर्णता

एवं निर्दोषिता को साम्प्रदायिकता की दुष्ट भावना से नष्ट नहीं होने देना चाहिये। घर तथा विद्यालय के वे घातक प्रभाव जो वर्ण की उच्चता अथवा साम्प्रदायिक घृणा की दूषित मनोवृत्ति के पोषक हैं दृढ़ता के साथ समाप्त कर दिये जाने चाहिये। यह कहना कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रथा तथा अपने धर्म-विश्वास को मानकर चलने की स्वाधीनता है कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं है। सामाजिक भद्रता की रक्षा के लिये निष्क्रिय तटस्थता की नहीं, सक्रिय सहानुभूति एवं बुद्धि की ज़रूरत है। यह सच है कि हम लोगों को गोली से नहीं उड़ा देते अथवा उन्हें फांसी पर नहीं चढ़ा देते, फिर भी उन्हें जाति से निकाल कर अथवा समाज से बहिष्कृत करके काफ़ी सफलता पूर्वक हम उसी प्रकार का काम कर लिया करते हैं। हिन्दू-मुसलमान सदियों साथ साथ रहे हैं फिर भी एक दूसरे के सम्बन्ध में अद्भुत ग़लत धारणायें बनाये हुये हैं। हठ पूर्वक एक दूसरे से दूर रह कर हम ऐसी मनोवृत्ति बना लेते हैं जिसका उपयोग स्वार्थी लोग अपने हित-साधन में करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में एक छोटे बच्चे ने अपनी सुधारवादी दल की सदस्या मां से पूछा—"अनुदार दल के लोग जन्म के ही बदमाश होते हैं या बढ़कर वे बदमाशी सीख जाते है?" मां ने उत्तर दिया—"वे बदमाश तो पैदायशी होते हैं, पर बढ़कर वे और भी बड़े बदमाश बन जाते हैं।" अपने घरों में इस प्रकार, हम अल्पवयस्क, अबोध, अरक्षित शिशुओं के मस्तिष्क में एक

दूसरे के विरुद्ध जहर भरा करते हैं। हमारी शिक्षा को, यदि वह सफल शिक्षा है, इस दुर्भावना एवं भ्रान्ति से हमें बचाना चाहिये, तथा उसे हमको ऐसी शक्ति देना चाहिये जिससे हम प्रेस तथा प्रचार के शिकार बनने से अपने को बचा सकें।

बिना सामाजिक न्याय के सामाजिक स्थिरता सम्भव नहीं। लोकतंत्र केवल राजनीतिक ही नहीं आर्थिक भी होना चाहिये। दुःख, गरीबी, पीस डालने वाले घोर परिश्रम से मजदूरों को आजाद कर देना होगा जिससे वे अपना विकास कर सकें, अपने भावों तथा शक्तियों को मूर्त रूप दे सकें। भूखों मरने वाले लाखों करोड़ों लोगों के दुःख ने अवश्य ही हमारे दिलों को चोट पहुँचाई है तभी हमने अनेक लोक-हितैषिणी संस्थायें जैसे अनाथालय, सत्र-शाला, दीन रोगियों के लिये औषधालय, गरीब औरतों के लिये जच्चाखाने आदि खोल रक्खे हैं जिनमें से बहुतों को साम्प्रदायिक संस्थायें चला रही हैं। यह भी, किसी हद तक, अच्छा है पर यह दवा तो रोग की नहीं उसके लक्षण की है। यदि वर्तमान व्यवस्था से अधिक उपयुक्त तथा सन्तोष-जनक इन्तजाम नहीं किया जा सकता, तो ये अनाथ-शालायें तथा अस्पताल हमारे कष्ट की अवधि को सिर्फ बढ़ाने में सहायक होंगे, और मैं तो समझता हूँ, कि उस दशा से तो यही अच्छा है कि हम भूखों मर जाँय एवं बच्चे पैदा करने बन्द कर दें।

जन-सत्तात्मक राज्यों को, अगर वे जनता के वास्तविक

प्रतिनिधि हैं, व्यक्तिगत उत्पादन का नियंत्रण करना ही होगा। प्राकृतिक एवं आर्थिक शक्तियों का नियंत्रण व्यक्तिगत निर्बाध प्रतियोगिता पर नहीं छोड़ा जा सकता। ग़ैर-सरकारी धन्धे भी असफलता से बचने के लिए सरकारी सहायता के लिए शोरगुल मचाया करते हैं। इसलिए इस शताब्दी में राजकीय एकाधिकार के बढ़ने में जनसाधारण को कोई वास्तविक आपत्ति नहीं मालूम पड़ती; हाँ ऐसा होने से जिन लोगों की पूर्व-प्रतिष्ठित सुविधाएँ ख़तरे में पड़ जायँगी, उनकी बात अवश्य ही दूसरी है। काफ़ी परिमाण में सामाजिक सहयोग एवं नियंत्रण के विना किसी भी समाज का टिकना सम्भव नहीं।

हमारे सामाजिक प्रयत्नों का जो विरोध किया जा रहा है उसे सत्य एवं प्रेम अवश्य मिटा देंगे अपने इस मूल विश्वास को किसी भी दशा में हमें नष्ट न होने देना चाहिए। इस सामाजिक लक्ष्य की प्राप्ति हमें अनुनयपूर्वक समझा-बुझाकर, करना चाहिए जबर्दस्ती करके नहीं तथा ऐसा करने में लोगों के सोचने, बोलने तथा काम करने की स्वतन्त्रता का दमन बिलकुल नहीं होना चाहिए, क्योंकि विना उनके मनुष्य-जीवन का कोई मूल्य, कोई गौरव नहीं। सामाजिक परिवर्तन को व्यवस्थित विकास के रूप में होना चाहिए, अत्याचारपूर्ण विच्छेद के रूप में नहीं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए समझदार लोगों को चाहिए कि जनता को सिखावें, सही बातों का प्रचार करें, एवं उस नीति का समर्थन करें जिससे लोकहित होने की सम्भावना है।

हम एक ऐसे युग में रहते हैं; जब इतिहास फिर से लिखा जा रहा है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उथल-पुथल हो रही है। हर तरफ़ विरोधी उद्देश्य, असम्बद्ध विचार-धारा दिखाई पड़ती है। धर्म में हम सर्वोच्च दर्शन की शिक्षा देते हैं पर वास्तविक जीवन में भद्दी से भद्दी मूढ़ कल्पना को मानकर चलते हैं। हम शंकर तथा प्लैटो की बात करते हैं पर जंत्रों-मंत्रों में श्रद्धा रखते हैं और परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए तथा पारितोषिक पाने के लिये मनौती मानते हैं। साम्प्रदायिक भेद-बुद्धि राष्ट्रीयता की भावना को पल्लवित नहीं होने देती। भारतवासियों तथा अँगरेज़ों में समानता की घोषणा तो हम करते हैं पर अपने भीतर ऊँच-नीच की भावना, छूत-अछूत की भावना, नित्य-प्रति बढ़ाते जा रहे हैं। आर्थिक दशा को ही लीजिए, यदि कोई बड़े दिन के अवसर पर कलकत्ता जाकर देखे कि वहाँ कितना धन शराब तथा ऐश में, तरह-तरह के जुआ में, पानी की तरह बहाया जा रहा है तो वह किसी प्रकार यह न समझ पायेगा कि वहाँ के निवासी इतने ग़रीब हो सकते हैं फिर भी वहाँ के असहनीय कठिनाइयों में पड़े दरिद्र तथा उनके झोंपड़े हमारे घोर आर्थिक अन्याय तथा अन-वस्था के जीते-जागते प्रमाण हैं। भयानक ग़रीबी, घोर निरक्षरता, उन्नति के मार्ग में सामाजिक बाधाएँ, विशिष्ट व्यक्तियों के हित-साधन में नियोजित धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक संस्थायें आदि अनन्त समस्यायें हमारे सामने हैं, एक-आध प्रश्न तो नहीं है। परिस्थिति की व्यापकता

तथा जटिलता का वेदनात्मक ज्ञान तो बहुतों को है, पर हमें आवश्यकता है वैज्ञानिक दृष्टिकोण की। इसे सुलझाने का कोई सीधा रास्ता नहीं है। बहुत बड़ी संख्या में विश्वविद्यालय से निकले पुरुष तथा महिलाओं की जरूरत है जो अस्पष्ट प्रश्नों को सुलझाकर, साफ़-साफ़, हमारे सामने रक्खें, विरोधी लक्ष्यों में सामञ्जस्य स्थापित करें, एवं नानारूपात्मक प्रभावों को महान् सामाजिक प्रयास की एकता में गुम्फित कर दें जिससे हमारी स्वार्थपरता, अविचार भावना, तथा तुच्छता कुछ कम हो सके। विश्वविद्यालय ही ऐसे लोगों को तैयार कर सकते हैं जो प्रचलित स्वार्थ-कीचड़ में न फँसकर लोकहित-साधन में लग जाँय, जिनमें सत्यदर्शन के लिए तीक्ष्ण बुद्धि एवं उसे कार्यान्वित करने के लिये आचरणदृढ़ता हो। संसार में मनुष्य को आनंद की उपलब्धि नहीं हो सकती। वह सिर्फ निश्छल, भद्र तथा भला बन सकता है। तुम्हें कोई ऊँचा पद मिले अथवा न मिले, तुम अपने साथियों का उपकार सदा कर सकते हो तथा सदा ही तुम सत्य का अनुसरण कर सकते हो, इसलिये नहीं कि उससे तुम्हें सफलता मिलेगी वरन् इसलिये कि तुम्हारा पथ न्याय का पथ है। विदा।

नवीन सामाजिक व्यवस्था

जहाँ तक मैं समझता हूँ विश्वविद्यालय का प्रधान कर्तव्य सामुदायिक जीवन बिताने की सर्वोत्तम कला का अभ्यास कराना ही है। आजकल की संकटपूर्ण अवस्था में जब हम बर्बरता की ओर बढ़ रहे हैं तथा वातावरण खतरों से भरा दिखाई देता है यह कला कदाचित् सबसे कठिन भी है। समाज में उथल पुथल मची हुई है। जो दलित हैं, जिनके पास खाने को अन्न तथा रहने को घर नहीं; उनके सामने राजनीतिक स्वाधीनता एवं सांस्कृतिक स्वतंत्रता की चर्चा चलाना उनका उपहास करना है। हमारी कठिनाइयों का सच्चा स्वरूप कैसा है मैं इस सम्बन्ध में कोई निश्चित सिद्धान्त आपके सामने नहीं रखना चाहता पर क्या समाज-व्यवस्था के मूल में ही कुछ गड़बड़ नहीं है; क्या मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध में ही एक अराजक अनवस्था घर नहीं

किये है ? गूँगों-बहरों के लिये, लँगड़ों-अन्धों के लिये पर्याप्त समवेदना दिखाई देती है पर ग़रीबों और बेकारों के प्रति तो कुछ भी नहीं हालांकि इनकी संख्या उनसे कहीं अधिक है। हम प्रकृति की उदासीनता की शिकायत तो करते हैं पर मनुष्य की दुर्बलता को चुपचाप स्वीकार कर लेते हैं। हम प्रकृति से उस न्याय की आशा करते है जो उसके गुणों में है ही नहीं, पर स्वयं उसको मानकर नहीं चलना चाहते।

भारत के नये विधान में राजनीतिक अधिकारों के प्रयोग पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगा दिये गये हैं जिससे लोग मनमाना, ग़ैर जुम्मेदाराना इस्तेमाल उनका न कर सकें। आर्थिक क्षेत्र में प्रतिबन्धों की आवश्यकता शायद और भी ज्यादा है। अपनी वर्तमान सामाजिक परिस्थिति में आर्थिक स्वतंत्रता की रक्षा के लिये आर्थिक शक्ति को प्रतिबन्धों से घेर रखना होगा जिससे सभ्यजीवन के लिये नितान्त प्रयोजनीय सामान्य सुख के साधन सबको सुलभ बनाये जा सकें। वास्तविक स्वतंत्रता समाज-बन्धन को तोड़कर व्यक्ति के बिल्कुल अलग हो जाने में नहीं है। वह तो बुद्धिपूर्वक सामाजिक शक्तियों को इस भाँति व्यवस्थित करने में है जिससे सभी का उचित विकास हो सके। यह व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता के बीच समझौता कर लेने की बात नहीं है। समाज में जो घुन लग गया है उससे हमारी रक्षा तभी हो सकती है जब हम एक नये दृष्टिकोण से, सम्पूर्ण समाज में एकत्व-भावना का का आरोप करें।

इसका यह अर्थ नहीं है कि हम राजनीतिक रहस्यवाद को ही पूरी तौर से स्वीकार कर लें और मनसा वाचा कर्मणा राज्य के ही दास बन जांय। संसार में ऐसे देश भी हैं जहाँ पर समाज कारागार बना दिया गया है और उसकी नींव स्वाधीनता के खँडहरों पर रक्खी गई है। दुनियाँ के कई भागों में स्वाधीनता की जो दशा है उसे देखकर एक बुद्धिमान फ्रान्सीसी का वह कथन याद आ जाता है जो उसने न्यूयार्क के बन्दरगाह की स्वतंत्रता की मूर्ति के दिखाये जाने पर किया था—"हम भी, अपने यहाँ, मरे हुओं के स्मारक बनाते हैं।" जो नई गुलामी आज प्रचलित हो रही है उसमें मनुष्य को सोचने अथवा बोलने का साधारण अधिकार भी नहीं है। किसी सामाजिक व्यवस्था की सच्ची परख उसके नागरिकों की रचनात्मक शक्तियों के विकास से ही हो सकती है। हमें अपने आर्थिक जीवन को इस ढंग से संगठित करना चाहिये कि व्यक्ति की जिम्मेदारी बढ़ जाय, घटे नहीं। सच्चा समाज गुलामों से नहीं, आज़ाद, स्वाभिमानी, सुशिक्षित स्त्री-पुरुषों से बनता है।

जिस प्रकार कोई भी अच्छी सामाजिक व्यवस्था गुलामों से नहीं बन सकती उसी प्रकार तमाम दुनियाँ के मित्र-राष्ट्रों का संघ पराधीन राष्ट्रों के मिलने से नहीं बन सकता। जैसे सामाजिक स्वतंत्रता तथा बराबरी के अधिकार एक राष्ट्र के आधार हैं वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय स्वतंत्रता संसार में सुख और शान्ति बनाये रखने के लिये निहायत ज़रूरी है। आज़ाद क़ौमों का राष्ट्र-संघ शान्ति एवं

स्वतंत्रता का मूल है। अभी तक यह केवल एक स्वप्न है पर वह ऐसा स्वप्न है जिसने बड़े बड़े दिमागों को उत्तेजना दी है, बड़े बड़े कामों को प्रोत्साहन दिया है और जो आगे भी उन्हें प्रोत्साहित करता रहेगा।

आधुनिक विश्वविद्यालय की शिक्षा बैठे बैठे दिमागी घोड़ा दौड़ाने का मजा लेने के लिये न्यौता नहीं है। वह तो कुछ करने के लिए हुक्म है, ऐसा हुक्म है जो हमें बदल जाने को कहता है, असम्बद्ध, अस्पष्ट विचार-धारा, आलस्य तथा कायरता से होने वाले खतरनाक नतीजों को जानकर उनसे बचे रहने को कहता है। वहाँ हमें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समानता तथा भ्रातृ-भाव का ज्ञान और उसके अनुकूल कार्य करने के लिये उत्साह मिलना चाहिये। महान् आदर्शों की प्राप्ति महान् साधनों से ही हो सकती है। लोकतंत्र बलात्कार नहीं करता, युक्ति देकर, समझा बुझाकर राजी करके काम निकालता है। लोकतंत्र-शासन में आपसी समझौता करके चलने की आदत बढ़ती है। वहाँ सभी यह मानते हैं कि युक्ति देकर ही किसी को अपनी बात मानने पर राजी किया जा सकता है। यदि हम प्रजातंत्रात्मक संस्थाओं को ठीक तरह से प्रयोग में लावें तो बिना खून बहाये, बिना क्रान्ति के ही, हम वर्तमान व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन कर सकते हैं। लोक-तंत्र, विशिष्ट-जन-शासन बनकर ही, अपनी रक्षा कर सकता है। उसके नेताओं को दोषरहित तथा स्वतंत्र-प्रकृति का होना चाहिये। उन्हें बुद्धिमान् तथा सत्य-भक्त होना

चाहिये। यदि चतुर तथा सिद्धान्त शून्य राजनीतिज्ञ जनता को उभाड़ें और उन्हें अपने ही स्वार्थ के लिये प्रयोग करें तो यह प्राकृत-जन-शासन होगा, लोकतंत्र नहीं। लोकतंत्र यह मानकर चलता है कि साधारण मनुष्यों को अपने हित का, अपनी भलाई बुराई का, इतना अच्छा ज्ञान होता है कि वे दूसरों की भी भलाई चाहते हैं। शिक्षित कहलाने वाले लोगों में भी ऐसे लोगों की संख्या अपेक्षाकृत कम है जो बिना बाह्य नियंत्रण को स्वीकार किये स्वतंत्र रूप से विचार कर सकते हैं। अतएव यह बहुत जरूरी है कि हम नेताओं को चुनते समय बुद्धिमानी तथा सावधानी से काम लें।

जन-तंत्रात्मक संस्थायें जब एक बार अपनी नीति बना लेती हैं तो उन्हें कार्यान्वित करने के लिये विशेषज्ञों के ऊपर छोड़ देना चाहिये। सभी प्रकार का शासन विशेषज्ञता का काम है। साधारण लोगों पर शासन-भार छोड़ देना कुछ वैसा ही होगा जैसे किसी स्कूल का इन्तजाम विद्यार्थियों पर छोड़ दिया जाय अथवा रेलगाड़ी चलाने का भार मुसाफिरों को सौंप दिया जाय।

भारतीय विश्वविद्यालय के स्नातकों को शीघ्र ही ऐसे पदों पर काम करना पड़ेगा जिनमें दक्षता तथा उत्तरदायित्व की आवश्यकता होगी। कक्षा के भीतर, विवाद-सभा में, छात्रावास में, खेल के मैदान में, एक का दूसरे मन को प्रभावित करके, विचार एवं वाणी की पूर्ण आजादी देकर उन्हें ईमानदार, सहिष्णु, तथा स्नेहशील बनाना होगा।

उन्हें भलाई देखना तथा सर्वोत्तम मार्ग का चुनना सिखाना होगा। विचार-स्वातंत्र्य का विकास, उदारता, तथा अपने से भिन्न सिद्धान्त रखने वाले लोगों की बातों को समझने की शक्ति का उत्पादन विश्व विद्यालय में ही सम्भव हो सकता है। स्पिनोजा का कथन है—"मैने बहुत परिश्रम करके, बहुत सजगता के साथ मनुष्यों के कामों को समझना सीखा है, उनका मज़ाक उड़ाना, उन पर खेद प्रकट करना अथवा उनसे घृणा करना नहीं।" विश्वविद्यालय के छात्रों से इस बात की आशा की जाती है कि आत्मसंयम को बिना खोये, धर्मान्ध पुरुष की असहिष्णुता को बिना अपनाये वे घटनाओं अथवा सिद्धान्तों को देख तथा समझ सकें। सामाजिक कुरीतियाँ, साम्प्रदायिक झगड़े, ग़रीबी तथा बेकारी, आर्थिक एवं राजनीतिक कामों में बढ़े हुए नियंत्रण आदि के कारण हमारे देश की जो अवस्था आज है उसमें बुद्धिमान, साहसी, तथा आत्म-त्यागी नवयुवकों के लिये काम करने को काफ़ी अवसर मिलेंगे। देश की सेवा करने में, सामाजिक न्याय, शुद्ध राजनीति तथा स्त्री-पुरुषों में उचित सम्बन्ध स्थापित करने में उन्हें पूरी आज़ादी होगी। मुझे आशा है कि वे इस सत्य को सदा याद रक्खेंगे कि असफलता में धैर्य धारण करने से हमारी हानि कभी नहीं हो सकती, हाँ धैर्य खो देने से उसका खतरा जरूर है।

भारतवर्ष में पाश्चात्य शिक्षा

आज आपके विद्यालय की जयन्ती के दिन भारतवर्ष में पाश्चात्य शिक्षा को आरम्भ हुए ठीक सौ वर्ष हुए। सौ वर्ष पहिले मैकाले ने अपनी सुप्रसिद्ध टिप्पणी लिखी थी। उसी को कार्यरूप देने के लिये तत्कालीन भारतवर्ष के बड़े लाट, लार्ड विलियम बेंटिंक, ने अपना ऐतिहासिक प्रस्ताव, ७ मार्च, १८३५ में, रक्खा था जिसमें कहा गया था कि "ब्रिटिश सरकार का यह महान् उद्देश्य होना चाहिए कि भारतवासियों में योरोपीय साहित्य तथा विज्ञान का प्रचार किया जाय।" पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार ने हमारे राष्ट्रीय जीवन में जान डाल दी। लोगों को शिकायत है - ठीक और उचित शिकायत है—कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने एक लाख रुपया सालाना खर्च करके जिस पश्चिमी शिक्षा को प्रारम्भ किया था वह एकांगी थी। जो शिक्षा दी जाती थी

वह साहित्यिक अथवा बौद्धिक थी और उसका अर्थ साम्राज्य-वादी व्यवस्था को उचित रूप से चलाते रहने के लिये क्लर्क तैयार करना था, प्रजातन्त्र शासन के लिये आवश्यक नेता नहीं। इसके अलावा सौ वर्ष तक अँगरेज़ों की अधीनता में शिक्षा का प्रचार होते रहने पर भी ३६ करोड़ निवासियों में से कुल ४० लाख अँगरेजी जाननेवाले और २ करोड़ ४० लाख देशी भाषा जाननेवाले साक्षर मनुष्य हो सके हैं। प्राथमिक शिक्षा की उपेक्षा बुरी तरह से की गई है। ग्राम निवासी, जो भारत की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग हैं, ऐसे वातावरण में रहते हैं जो सदियों से नहीं बदला है। अब परिस्थिति कदाचित् कुछ और अधिक ख़राब हो गई है। जैसे ही आने-जाने में सुविधा हुई और रेल-गाड़ियाँ देश के भीतरी भाग में पहुँचीं वैसे ही गाँव का शिल्पकार—कुम्हार, जुलाहा अथवा लोहार—अपने वंशगत व्यवसाय को छोड़ने पर विवश हो गया तथा खेती करके ही, किसी प्रकार जीवन-निर्वाह करने लगा। भद्दे मध्यम-कालीन तरीक़ों से अब तक काम लिया जाता है। उच्च विज्ञान तथा व्यवसाय सम्बन्धी शिक्षा की बात सोची भी नहीं गई। इसके लिये हम शासकों को दोषी नहीं ठहरा सकते क्योंकि योरोप के देशों में भी प्राथमिक शिक्षा का प्रचार कुछ ही दिनों से हुआ है। बहुत दिनों तक प्रायः सभी शिक्षित लोग लेटिन, ग्रीक, व्याकरण, तर्कशास्त्र अथवा अलंकार शास्त्र का ही अध्ययन करते रहे। अब दृष्टिकोण तथा व्यवस्था में परिवर्तन हो रहा है और हमें कोई संदेह

नहीं कि शिक्षा-सम्बन्धी केन्द्रीय-मंत्रणा-समिति शिक्षा के नव-विकास में हमारी नीति को बदल देगी और इस बात पर ज़ोर देगी कि उच्च विज्ञान तथा व्यावसायिक शिक्षा के साथ ही प्राथमिक शिक्षा का प्रसार भी किया जाय।

इस समय मैं पाश्चात्य शिक्षा-व्यवस्था की सविस्तर व्याख्या करना नहीं चाहता, मुझे केवल यह बताना है वह शिक्षा किस ढँग की है। दो मुख्य बातें, उस विषय में, हमारे सामने आती हैं; एक तो लोकतंत्रात्मक पद्धति और दूसरी वैज्ञानिक भावना। हमारे देश के विद्वानों ने विज्ञान अथवा पाण्डित्य की वृद्धि में कितनी सहायता दी है यह बताना मेरा उद्देश्य नहीं है। अब लोगों ने इस पुराने ख़याल को बदल दिया है कि विश्वविद्यालय के लोग संसार से अलग, बिलकुल एकान्त, जीवन बिताते हैं और अपना सारा समय अध्ययन अथवा अनुसन्धान में, विवाद अथवा विचार में, लगाते हैं। विद्यालय का कर्तव्य केवल विद्वान् तैयार करना ही नहीं है उसे देश के लिये श्रेष्ठ नेता भी तैयार करना है। मुझे अपने नौजवान दोस्तों को एक चेतावनी देनी है कि अध्ययन तथा अभ्यास संघर्ष में वास्तविक भाग लेना नहीं है। यदि आवेश में आकर समय से पहले ही क्रियात्मक राजनीति में वे भाग लेने लगे एवं उन बहुमूल्य वर्षों को, जो उन्हें जीवन-समर के लिये तैयारी करने में लगानी चाहिये थीं, योंही बरबाद कर दिया तो उनकी भारी हानि होगी। पश्चिम की श्रेष्ठता का कारण दिमाग़ी ईमानदारी, सत्य का निश्छल अन्वेषण, है। सत्य-भक्त सुकरात के समय

से अब तक एकआध अपवादों को छोड़कर, आत्मतुष्टि, मानसिक आलस्य तथा अतीत के ज्ञान में अन्ध-श्रद्धा से पश्चिमी विद्वान् बिलकुल बचे रहे हैं। उन्होंने कुतूहल को, निरीक्षण अथवा परीक्षण से निकट तथा दूर के सम्बन्ध में सच्चा ज्ञान उपार्जन करने की उत्कट अभिलाषा को, कभी हाथ से जाने नहीं दिया। विज्ञान ने करोड़ों आदमियों की जिन्दगी को आसान बना दिया था। हमारे शिक्षकों ने मस्तिष्क को वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया। वैज्ञानिक मस्तिष्क तथा वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करना एक ही बात नहीं है। हम टेलीफोन, बेतार के तार, रेल, हवाई जहाज आदि का इस्तेमाल जान भी जायँ तो भी, हो सकता है कि, हमारा मस्तिष्क वैज्ञानिक न हो। वैज्ञानिकता कोई बाहरी, केवल आलंकारिक, वस्तु नहीं है, वह तो मस्तिष्क का ही अंग है, उसी का एक अविच्छेद्य अवयव है। इस वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग केवल व्यावहारिक जीवन तथा अवकाश की साधारण व्यवस्था में, भौतिक पदार्थों के विवरण में, उद्योग धन्धों एवं खेती की उन्नति में ही नहीं करना चाहिये वरन् उन बातों में भी करना चाहिये जो जाति के मन तथा उच्च आचरण से सम्बन्धित हैं। हमारे वैज्ञानिक मस्तिष्क को कल्पनातीत ऐश्वर्य और घोर दरिद्रता के विपरीत दृश्यों से ही नहीं वरन् अत्यधिक पवित्रता और मूर्खतापूर्ण अन्धविश्वासों से भी ठेस पहुँचना चाहिये। हमने अपने पारस्परिक सम्बन्धों में वैज्ञानिक तथा सामाजिक ज्ञान का ठीक ठीक प्रयोग नहीं कर पाया है। हमारी इस असफलता के चिन्ह समाज में स्पष्ट दिखाई

पड़ रहे हैं। अस्पृश्यता जैसी सामाजिक दुर्बलतायें केवल इसलिये हमारे समाज में प्रचलित हैं कि हमारा आदर्श प्रथा के भार से दवा हुआ है। जो लोग अन्य बातों में भले तथा दयालु हैं वह भी उन्हें चुपचाप मान लेते हैं क्योंकि परम्परा ने उनकी बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया है तथा उनकी संवेदना शक्ति नष्ट हो चुकी है। आज हमारे देश में लाखों आदमी ऐसे है जो वैज्ञानिक यंत्रों का उपयोग करते हैं फिर भी अन्ध-विश्वासों में, उन्हें ईश्वर-दत्त-रहस्य-ज्ञान बताकर, अत्यधिक श्रद्धा रखते हैं और निरर्थक प्रथाओं को परम्परा के नाम से, मान कर चलते हैं। इस सम्बन्ध में विज्ञान तथा धर्म में कोई वास्तविक झगड़ा भी नहीं है। भगवान् हमसे यह नहीं कहता कि "मैं परम्परा हूँ" वरन् वह तो सिर्फ यह कहता है कि "मैं सत्य हूँ" हमें सत्य का अनुसन्धान करने वालों की भक्ति करना चाहिये क्योंकि वे हमारे हृदयों पर सत्य की भावना से अधिकार कर लेते हैं तथा किसी का अनुगत नहीं होना चाहिये क्योंकि वे लोग हमें प्रथाओं का ग़ुलाम बना देते हैं। परम्परा कभी सत्य से श्रेष्ठ नहीं हो सकती। जो स्पष्टतः अनुचित है वह रूढ़ि अथवा आप्त-वाक्य होने से उचित नहीं हो सकता। हमारी सदसद्विवेक-बुद्धि धर्मवाक्य के द्वारा दबाई नहीं जा सकती। हमें अपने मस्तिष्क की गन्दगी को साफ़ कर देना होगा।

हमारे देश में कुछ ऐसे लोग भी हैं जो वैज्ञानिक तथ्यों एवं सिद्धान्तों को अपने प्रिय अन्ध-विश्वासों की रक्षा के लिए प्रयोग करते हैं। वे कहते हैं कि 'मिल' से भी पहले

हमारे यहाँ उसी प्रकार के सिद्धान्तों के प्रचारक मनु हो चुके हैं और प्राचीन भारत में वायुयान तो थे ही। वे मानव-विज्ञान-विशारदों तथा सुन्दर-सन्तानोत्पादन शास्त्रियों की आधुनिकतम खोजों का उपयोग वर्ण की क्रूरता के समर्थन में करते हैं। जब जोश तथा अन्ध-विश्वास वैज्ञानिक महत्ता का रूप धारण कर लेते हैं, जब वे वास्तविक विज्ञान से बचने के इरादे से एक अर्द्ध-विज्ञान अथवा विज्ञानाभास को जन्म देते हैं, तब वे बहुत भयानक हो जाते हैं। हमें वैज्ञानिक हृदय विकसित करना होगा, एक बौद्धिक गम्भीरता का अभ्यास करना होगा, और आवेशपूर्ण उद्वेगों से भरी परिस्थति में भी मानसिक शांति बनाये रखनी होगी। हमें साधारण जनता को भी ऐसे विचार बनाने में सहायता देनी होगी जिन तक समूह-मनोविज्ञान अथवा जनता के पागलपन की पहुँच भी नहीं हो सकती। हमारे विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर चुकने वाले नवयुवकों का कर्तव्य है कि वे अन्ध-विश्वासों के विरुद्ध विवेक के धर्मयुद्ध में भाग लेंगे। आशा है कि सत्य के द्वारा हम अवश्य स्वतंत्रता प्राप्त कर सकेंगे। सत्य तथा स्वतंत्रता बिलकुल एक हैं और यदि हमारे विश्वविद्यालय एवं अन्य विद्यालय सत्य का अन्वेषण और स्वतंत्रता प्राप्त करने का उद्योग छोड़ देंगे, यदि वे मनुष्यों के हृदयों में श्रेष्ठ अभिलाषाओं को जाग्रत न करेंगे, तो वे प्राणहीन हो जाँयगे।

यदि विचार-क्षेत्र में बुद्धि अथवा विवेक का राज्य कायम करना विज्ञान का लक्ष्य है तो आचरण-क्षेत्र में समता को

स्थापित करना लोकतंत्र का उद्देश्य है। लोकतंत्र किसी राजनीतिक व्यवस्था अथवा शासन-पद्धति को नहीं कहते। वह तो जीवन अथवा व्यवहार का ढँग है, एक सक्रिय विश्वास है जो प्रत्येक कार्य्य, वचन तथा विचार को उत्साहित करता है, उसमें जान डालता है। हमारी मौजूदा सामाजिक व्यवस्था विशेष सौभाग्यशाली वर्ग के लोगों में एक ऐसी भावना उत्पन्न कर देती है जिससे वे विशेषाधिकारों को उचित मानने को तैयार हो जाते हैं; जैसे वह समाज-व्यवस्था का कोई अनिवार्य लक्षण हो, वह जैसे स्वाभाविक, उचित एवं न्याय-सम्मत हो। अगर हम ईमानदारी से लोकतंत्र को पसंद करते है तो वर्तमान समाज-व्यवस्था के उन दोषों से आँखें नहीं बन्द कर सकते जो बिल्कुल स्पष्ट हैं। जो व्यवस्था बहुत बड़ी संख्या में शिक्षित नवयुवकों को काम नहीं दे सकती तथा उनकी रक्षा का उचित प्रबन्ध नहीं कर सकती उसमें निश्चय ही कोई न कोई स्वाभाविक दोष है। यदि वे थोड़े लोग जो सभ्यता के सुखों के आज मालिक हैं उन सुखों का भाग बाकी लोगों को बाँटना नहीं चाहते तो निश्चय ही हमारा समाज छिन्न भिन्न हो जायगा। कोई भी ऐसा राज्य स्थायी नहीं हो सकता जो भद्र जीवनके उपयुक्त साधन अपनी समस्त जनता के लिये सुलभ नहीं कर देता। हम मानते हैं कि रोग से स्वास्थ्य अच्छा होता है, दरिद्रता से सम्पन्नता श्रेष्ठ है, शीत एवं ताप से आश्रय स्थान बढ़ कर है, चिन्ता-व्यथा से मानसिक शान्ति कहीं अधिक वांछनीय है। हमारा कर्तव्य है कि सभ्य-जीवन के लिए परमावश्यक इन उपक-

रणों को हम जन-साधारण के लिये सुलभ करें, हम मूलभूत आर्थिक न्याय को सब तक पहुँचावें और यदि आवश्यक हो तो इसके लिये आय पर, भूमि पर, पैतृक-धनाधिकार पर लगने वाले कर में वृद्धि कर दें। भगवान् ने सम्पति को समाज के हित में ही उपयोग की जाने के लिये बनाया था "यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा" (महा भारत)। लेनिन ने नहीं, ब्लैकःटोन ने लिखा था—"कानून केवल इतना ही नहीं करता कि जीवन को विशेष महत्व दे तथा प्रत्येक व्यक्ति की प्राण रक्षा करे वरन् इसके लिये आवश्यक साधनों को भी जुटाता है। कोई कितना ही ग़रीब तथा दुःखी क्यों न हो उसे अधिकार है कि वह समाज के धनवान् व्यक्तियों से जीवन की सब आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये पर्याप्त अर्थ मांगे।" कुछ ऐसे भी मूलभूत धन्धे हैं जिनके लिये सरकारी सहायता मिलती है और कोई वजह नहीं कि सरकार उनका इन्तजाम अपने हाथ में न ले ले। इससे उच्च पदों पर भारतीय नियुक्त किये जा सकेंगे और काम भी अच्छा होगा। यदि उत्पादन के साधन सरकारी कब्जे में लेना पड़े तो उनके वर्तमान स्वामियों को उचित मुआवज़ा मिलना चाहिये। भूमि-कर-व्यवस्था में संशोधन करना बहुत आवश्यक है। यद्यपि प्रजा-तंत्रवादी उन क्रान्तिवादियों का अनुयायी नहीं होता जो स्वतंत्र-प्रेम, अनीश्वरवाद तथा सभी सम्पत्ति का बटवारा करने के पक्षपाती हैं, तो भी शान्त रहकर सम्पत्ति का अधिक न्याय-सम्मत वितरण करना उसका भी ध्येय है। पर इस लक्ष्य की प्राप्ति लोक-

तंत्र की पद्धति से होनी चाहिये जिसमें ज़बर्दस्ती नहीं की जाती, उसके बजाय समझाकर, मनाकर, काम निकाला जाता है। उद्देश्य की प्राप्ति भयानक क्रान्तिकारी विप्लव के द्वारा नहीं होती। लोकतंत्र पद्धति उस संकीर्णता तथा असहिष्णुता का विरोध करती है जिनके कारण पुराने ज़माने में धर्म-विरोधी बातें कहने के फल-स्वरूप लोगों को जान से भी हाथ धोना पड़ता था और आज भी अनेक देशों में उसी पद्धति के द्वारा विरोधी राजनीतिक सिद्धांतों का दमन किया जा रहा है।

हमारे देश में कुछ ऐसी शक्तियाँ भी हैं जो लोकतंत्र का विरोधकर रही हैं। धर्म राजनीति में घुस गया है। नवयुवक ऐसे वातावरण में पल रहे हैं जहाँ वर्गकृत अथवा सम्प्रदायकृत विद्वेष को प्रोत्साहन मिलता है। बचपन से ही उन्हें यह शिक्षा मिलती है कि अपने वंश अथवा सम्प्रदाय की भक्ति बिलकुल स्वाभाविक है। संकीर्णता बढ़ रही है। भद्दी प्रान्तीयता को देश-भक्ति अथवा मानवता-प्रेम के विरुद्ध अपराध नहीं गिना जाता। वह लोग भी जो अपने को राष्ट्र-भक्त कहते हैं सम्प्रदाय के प्रति अपने कर्तव्य को बहुत ऊँचा, बहुत महत्वपूर्ण, स्थान देते हैं तथा मनुष्य के प्रति अपने कर्तव्य को बहुत साधारण दृष्टि से देखते हैं। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि बड़े बड़े लोग भी घूस तथा पक्षपात के दोषी हो रहे हैं। इस प्रतिद्वन्द्विता से भरे संसार में यह बहुत जरूरी है कि सभी बुद्धिमान् व्यक्तियों की सेवायें राष्ट्र के लिये हों, वह सरकार के अधीन हों।

प्रत्येक सच्चा लोक-तंत्र का भक्त पूर्ण प्रयास करेगा कि साम्प्रदायिक दासता तथा वर्ग की गुलामी से देश मुक्त हो। हमें आदमियों को लोक तंत्रात्मक राज्य के नागरिक बनाना है, फासिष्ट अथवा नाजी नहीं।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा सामाजिक आदर्शवाद हमारी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं में घोर परिवर्त्तन कर रहे हैं। हम स्वराज्य इसलिये नहीं चाहते कि हमारे देश के कुछ लोग ऊँचे ऊँचे पद पा जायँ, वरन् इसलिये कि हमारी जनता भद्र जीवन बिता सके, सर्वसाधारण सुख से रह सकें। हम राजनीतिक गुलामी दूर करना चाहते हैं जिससे हम अपने देशवासियों के दुःख मिटा सकें। आज राष्ट्रीयता की भावना राजनीतिज्ञों अथवा सुशिक्षित व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है। इस महान् परिवर्त्तन का श्रेय केवल एक व्यक्ति को है।

समय समय पर इस दोष-युक्त संसार में ऐसी महान् आत्मायें अवतरित होती रहती हैं जिनमें अपूर्व प्रतिभा होती है, जिनमें यह जानने की शक्ति होती है कि हम क्या ग़लती करते हैं, जिनमें अपनी पीढ़ी के लोगों को रास्ता दिखाने की ताक़त होती है, विरोधी शक्तियों का सामना करने का साहस होता है तथा देश को विजय एवं सफलता की ओर ले जा सकने में आत्मविश्वास होता है। गान्धी जी उन्हीं पुरुषों में हैं। उन्होंने ही पहले पहल हमें यह बताया कि राजनीतिक दशा को शेष जीवन से अलग करके नहीं देखना चाहिये। राजनीतिक दशा तो उस रोग का

एक लक्षण मात्र हैं जिससे हम सब पीड़ित हैं। जो दुःख हम भोग रहे हैं वह हमारी साधारण दुर्बलताओं का ही प्रतिफल है। हम जो यह दिखाया करते हैं कि निर्दोष होने पर भी हम दुःख पा रहे हैं उसे बन्द करना होगा। उससे हमारी आत्मा को सन्तोष अवश्य मिलता है। पर वह बात गलत है। स्त्रियों तथा शूद्रों के प्रति हमने बहुत अत्याचार किया है। उसके लिये हमें पर्याप्त प्रायश्चित्त करना होगा। जो लोग हमारी रजनीतिक दासता को निरीह पुरुषों पर डाकुओं द्वारा किया गया बाहरी अत्याचार समझते हैं उन्होंने इतिहास को ठीक समझा नहीं है। जातियों के ऐतिहासिक भाग्य का निबटारा हम इतनी सरलता से नहीं कर सकते। अंगरेज डाकू नहीं हैं जो उसके इतिहास रूपी राजमार्ग पर उसके ऊपर टूट पड़े हों और उसके हाथ पैरों को बन्धनों से जकड़ दिया हो। अंगरेजी शासन एक बहुत गम्भीर घटना है जो भारतीय समाज-व्यवस्था के भयानक दोषों को प्रतिबिम्बित करती है। वह हमारे आन्तरिक विप्लव का केवल बाह्य रूप है; हमारी धर्म-हीनता का, हमारे भयोत्पादक चारित्रिक पतन का, हमारी फूट तथा अनुशासन-हीनता का, हमारे अत्याचार एवं गँवार-पन का, बाहरी लक्षण मात्र है। 'राबर्ट ब्रिजेज' के शब्दों में कहना चाहिये कि हमारी हीन दशा की जिम्मेदारी 'आत्मिक मलिनता की भीड़' पर है। हमें इस पर विजय पाना है। जब तक हम अपना पुनर्निर्माण नहीं कर लेते, भारत का नव-निर्माण भी नहीं कर सकते। हमारा सर्व

प्रथम कर्त्तव्य नैतिक परिष्कार, आध्यात्मिक नव-जीवन, है। केवल तभी हमारे राष्ट्र को नया जीवन तथा स्वाधीनता प्राप्त हो सकती है।

पिछले पचास वर्षों में हमारे देश के साधारण जीवन में महत्वपूर्ण उन्नति हुई है। यह सच है कि हम एक ऐसी दुनियाँ में रहते हैं जिसमें साम्प्रदायिक ईर्ष्या, अन्तर्प्रान्तीय विद्वेष, तथा बेकारी से उत्पन्न दुःखों की प्रचुरता है; जिसमें आर्थिक अनिश्चय एवं घोर प्रतिद्वन्द्विता के कारण अनेक प्रकार की चिन्ताएँ हमें घेरे रहती हैं और जहाँ हम जान बूझकर सुख प्राप्त कर सकने के अवसरों को हाथ से निकल जाने दिया करते हैं। इन परिस्थितियों से हम विचलित न हों। यह तभी हो सकता है जब हम या तो घोर नास्तिक हों और या फिर बिलकुल मूर्ख हों, पर, हमारे सौभाग्य से, यह दोनों स्थितियाँ अत्यन्त विरल हैं। किन्तु निराश होने की ज़रूरत नहीं। यद्यपि मुझे उन ख़तरों का पता है जो हमें चारों ओर से घेरे हुये हैं फिर भी जीवन-आदर्श के गिरने के लक्षण तो मुझे दिखाई नहीं देते और यदि हम साधारण रूप से देखें तो मालूम होगा कि जो उन्नति हमने की है वह महान् है तथा उसकी गति अत्यन्त तीव्र है। पिछले पचास वर्षों में अन्य, देशों की भाँति हमारे देश में भी एक सामाजिक क्रान्ति हो गई है जिसका अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा है। चूँकि इसमें कोई बाहरी जोर ज़बरदस्ती नहीं दिखाई पड़ती अतएव अनेक लोग तो समझ भी नहीं पाते कि कोई क्रान्ति हो भी रही है। इस

परिवर्तन का सबसे अधिक प्रभाव नवयुवकों पर दिखाई पड़ता है। यद्यपि अपने छोटे, सीमित, अनुभव के आधार पर किसी व्यापक सिद्धान्त का प्रतिपादन करना ख.रे से खाली नहीं फिर भी मेरा अनुमान है कि आधुनिक छात्र पहिले की अपेक्षा अधिक गम्भीर उद्देश्य लेकर चलते हैं, उनकी समाज-भावना अधिक व्यापक तथा मनुष्य मात्र के प्रति बन्धुत्व अधिक दृढ़ है। सर्व साधा.रण की शिक्षा में निश्चय ही उन्नति हुई है और शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा तो विशेष रूप से तीव्र हो गई है। मैं जानता हूँ कि इस नई आज़ादी से भी हमें खतरा है, पर पुरानी गुलामी में जो खतरे थे उसकी तुलना में यह बहुत कम हैं। यदि हमें उन उत्सुक नवयुवकों की मूर्खता एवं दाम्भिकता से कुछ परेशानी होती है जो समझते हैं कि उत्साहपूर्ण कर्म की प्रशंसा करनी चाहिये, चाहे वह कुपथ की ओर ही ले जाने वाला क्यों न हो, तो हमें यह सोचकर उसकी उपेक्षा करनी चाहिये कि यह तो आर्थिक न्याय तथा लोकतंत्र के आदर्श की स्थापना के स्वाभाविक मर्यादोल्लंघन का फल है। मुझे मालूम है कि इस युग में अशिष्टता कुछ बढ़ गई है। संस्कृत लोगों का वह गुण जो परम्परा की रक्षा अथवा सुरुचिपूर्ण व्यवहार में प्रकट होता था अब कम हो रहा है। जिन लोगों को स्वतंत्रता मिल गई है उनका अभद्र व्यवहार, उन संदेहजनक कार्यों के प्रति लोगों की सहानुभूति जिनसे सफलता अथवा यश मिलने की सम्भावना हो, जोश में आने पर अथवा निर्वाचन के अवसर पर

विनीत कहे जानेवाले लोगों का भी कुरुचि-प्रदर्शन, नित्य के वाद-विवाद में संयम का अभाव आदि कभी कभी हृदय में नैराश्य का संचार कर देते हैं और चिन्ता होने लगती है कि क्या यह लोकतंत्र इस योग्य है कि उसके लिये इतना श्रम किया जाय। पर लोकतंत्र के सम्बन्ध में उसके वर्तमान रूप को देखकर ही हमें कोई निर्णय नहीं दे देना चाहिये। शिक्षित व्यक्ति ही जाति के स्वाभाविक नेता हैं। वही लोगों की नैतिक भावनाओं का पथ-प्रदर्शन करते हैं। यदि उन्हें वह सच्ची आत्म-दृष्टि मिल सके जिससे आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में लोकतंत्र की भावना उत्पन्न हो जाती है, यदि इस संघर्ष में वे त्याग तथा सेवा की भावना से भाग लें, वासना, शक्ति तथा लाभ की दृष्टि से नहीं, तो वे हमारी राष्ट्रीय उन्नति में काफी सहायक हो सकते हैं। ऐसा कोई काम न करो जिससे तुम्हारे उद्देश्य को बदनाम किया जा सके अथवा तुम्हारे देश का अपमान हो। मातृभूमि की इज्जत एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। मैं बर्नार्डशा के शब्दों में समाप्त करना चाहता हूँ। "किसी ऐसे कार्य में नियोजित होना जिसे हम स्वयं ही हृदय से महान् समझते हैं, बिलकुल बेकार हो जाने से पहले ही किसी अच्छे काम में सारी शक्ति को खर्च कर डालना, तथा आवेश में आकर, स्वार्थ भावना से यह शिकायत करते घूमने की अपेक्षा कि दुनियाँ हमारे सुखों का कोई प्रबन्ध न करेगी प्रकृति की शक्ति बनना ही जीवन का सच्चा सुख है।"

विद्वानों का उत्तरदायित्व

किसी भी देश के विद्वानों का उत्तरदायित्व बहुत बड़ा होता है। यदि किसी महत्वपूर्ण प्रश्न पर एक देश का मत हमें जानना होता है तो हम मज़दूर मज़दूरिनों की राय नहीं खोजते। देश के नेता ही जनता की भावनाओं तथा महत्वाकांक्षाओं के प्रतिनिधि होते हैं, उन्हें बनाते बिगाड़ते हैं। दुनियाँ का इतिहास हमें बताता है कि संसार से दासता का विनाश करने में दासों की समवेत इच्छा का कोई हाथ नहीं रहा है। लोकतंत्र राज्य जब तक पूर्णरूप से समस्त जनता को शिक्षित नहीं बना पाते तब तक नेताओं के ऊपर बहुत बड़ी जिम्मेदारी रहेगी। साधारण वोटर (मत देने का अधिकारी नागरिक) आज इंगलैण्ड में भी, बहुत से विषयों पर, अपना स्वतंत्र मत नहीं रखता। वह अपना दल या तो परम्परा के बल पर चुनता है और या फिर उस दल

के मुख्य सिद्धान्तों के अपने सिद्धान्तों की समानता के कारण उसे पसन्द करता है। अन्य साधारण बातों में वह नेताओं की राय मानकर ही चलता है। दल चुनते समय वह ईमानदारी से काम लेता है और बाद में नेता निश्चय किया करते हैं और वह केवल उन्हें कार्यान्वित करता रहता है। यदि १६१४ को ३ अगस्त को सर एडवर्ड ग्रे ने तटस्थता की घोषणा कर दी होती तो अधिकांश नरम दल के लोगों ने उसे बहुत सुन्दर नीति स्वीकार कर लिया होता, ठीक उसी तरह जिस प्रकार उसकी हस्तक्षेप की घोषणा को लोगों ने उचित तथा ठीक मान लिया। इस जटिल सामाजिक यंत्र में भिन्न भिन्न अवयवों का स्वतंत्र विचार रख कर चलना बहुत कठिन है। आज्ञापालक पुरजे बनकर काम करना कहीं अधिक सरल है। सोचने से, अपना अलग मत रखने से, कोई लाभ भी नहीं। सम्भव है सोचना महँगा पड़े। यदि नेतागण जनता के मत को बनाना चाहते हैं, यदि उसे कोई विशेष रूप देना चाहते हैं, तो प्रेस तथा रेडियो से बहुत सहायता ली जा सकती है। प्रचारकों के लिये, वर्तमान परिस्थितियों में, सामूहिक उत्तेजना देने तथा संसार में विद्वेष भड़काने के अवसर अब बहुत बढ़ गये हैं। थोड़े से चालाक, साहसिक नेता जनता के मनोवेगों को उत्तेजित कर सकते हैं और उनकी बौद्धिक स्वतंत्रता का अपहरण कर सकते हैं। ऐसी दशा में सत्य की विजय नहीं होती—सत्य का पता लगाने की भी कोशिश हम नहीं करते; जो हम चाहते हैं उसी को सत्य सिद्ध कर देते हैं। यदि

कुछ उदाहरण तथा तालिकाएँ भी हम दे दें तो हमारा पक्ष और भी युक्ति-संगत जँचने लगता है। उनसे तटस्थता एवं सत्य की झूठी प्रतीति बढ़ जाती है। हम तटस्थ रहकर भी झूठे रह सकते हैं। हम न्याय का ढोंग रचकर भी पक्षपात का समर्थन कर सकते हैं। जिसे हम प्रचार कहते हैं उसका यही वास्तविक स्वरूप है और यही संसार के बड़े बड़े संकटों के लिये जिम्मेदार है।

युवक तथा युवतियो, जब तुम अपना व्यवसाय चुन कर संसार में प्रवेश करोगे, वह वकालत हो अथवा पत्र-कार-कला, उद्योग हो अथवा व्यवसाय, सरकारी नौकरी हो अथवा स्कूल की अध्यापकी, तो लोगों का मत गढ़ने में तुम्हारा बहुत बड़ा हाथ रहेगा। जनता के मत तथा कर्तव्य-भावना को ऊपर उठाने और उसकी रक्षा करने में तुम्हारा भी भाग होगा। इसका फैसला तुम्हारे ही ऊपर है कि तुम झूठे प्रचारक बनोगे अथवा आदर्श-संस्थापक महात्मा। इस कठिनाइयों से भरे निकट भविष्य में वही हमें सच्ची सहायता दे सकेंगे जो न तो झूठा प्रचार करें और न स्वयं उसमें फँसें।

मैं राजनीतिज्ञ नहीं, केवल एक जिज्ञासु छात्र—एक तटस्थ निरीक्षक—हूँ। अनेक वर्षों तक मैं भारत के भिन्न भिन्न भागों में अध्यापक रह चुका हूँ अतएव देश के नव-युवकों की मनोवृत्ति जानने का कुछ दावा भी मैं कर सकता हूँ। मनोविज्ञान के विद्यार्थियों के लिये परिस्थिति बहुत ही आकर्षक है, राष्ट्र- सुधारकों के लिये अवसर से

लाभ उठाने के लिये शीघ्रता करने की आवश्यकता है। आज भारत क्रान्तिपूर्ण नव जागृति से हिल गया है। लोग अनुभव कर रहे हैं कि परम्परा से चिपटे रहने वाले लोग उन्नति नहीं कर सकते। प्राचीन आर्य तथा ग्रीक लोगों की संस्कृति स्वाधीनता के वातावरण में विकसित हुई थी। जब तक मनुष्य का मस्तिष्क किसी भी प्रकार के अत्याचार से दबा रहता है, वह अत्याचार सामाजिक हो अथवा आर्थिक, राजनीतिक हो अथवा धार्मिक, तब तक वह अन्धकार-युग में रहता है। यह केवल आकस्मिक घटना ही नहीं है कि वैज्ञानिक खोज तथा ज्ञान का विस्तार योरोपीय देशों में उसी समय बढ़ा जब वहाँ के निवासियों के मस्तिष्क अन्ध-श्रद्धा से मुक्त हो रहे थे। प्रधानतः इसी तथ्य की अनुभूति के फलस्वरूप आज हम राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक क्षेत्र में प्रभुता के विरुद्ध, स्वतंत्रता पाने की चेष्टा में, लगे दिखाई पड़ते हैं। जब मौजूदा बहस मुबाहसे का गन्दा वातावरण साफ होजायगा तो अंगरेजों की यह कीर्तिकहानी चिरकाल तक कही जायगी कि उन्होंने एक महान् जाति के आत्म-सम्मान एवं स्वाभिमान को जाग्रत किया और दासता में पड़े रहने के लिये उसे तीव्र लज्जा का बोध कराया। जीवन के प्रभात में जब संस्कार सरलता से ग्रहण किये जाकर पुष्ट होजाते हैं, जब स्नेह में नैराश्य तथा प्रयास में विफलता का अनुभव नहीं हुआ रहता, जब आदर्शवाद का प्रबल आकर्षण होता है तथा भविष्य का द्वार उन्मुक्त प्रतीत होता है, जीवन के

उसी प्रभात काल में नवयुवक तथा नवयुवतियाँ स्वतंत्रता-संग्रामों का इतिहास पढ़ती हैं। हमारी बहुत बड़ी भूल होगी यदि हम समझें कि थर्मापली की कथा बिना उत्तेजित हुये वे पढ़ सकेंगे। पैलर्मो से नेपिल्स के लिये गैरीबाल्डी की यात्रा को वे सर्पेन्टाइन के किनारे किनारे हवाखोरी के लिये घूमना नहीं मान सकते। योरोपीय राष्ट्रों के साहसिक कार्य्यों का अध्ययन वे केवल वार्षिक परीक्षा को ही सामने रखकर नहीं कर सकते। वे कथायें कल्पना को उल्लासित करती हैं, अभिलाषाओं को जगाती हैं। पाश्चात्य इतिहास का अध्ययन करके तथा वर्षों यह सीखकर कि स्वतंत्रता से अधिक मूल्यवान् वस्तु हो ही नहीं सकती; यह जानकर कि स्वतंत्रता केवल आवश्यक ही नहीं वरन् जीवन में सर्वापेक्षा अधिक आवश्यक है; यदि हमारे नवयुवकों ने भी आजादी का पाठ पढ़ लिया है और अपने देश में उसी इतिहास की पुनरावृत्ति करना चाहते हैं तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? आज़ादी के बिना देश केवल जेलखाना है। हमें ग़रीब किन्तु आज़ाद भारत पसन्द है, अमीर पर पराधीन नहीं। यही आवाज़ आज हमें चारों तरफ़ सुनाई पड़ रही है। जब हमारे नौजवान विदेशों में आते हैं और देखते हैं कि चीनी, जापानी, जेक तथा तुर्क सभी आज़ाद मुल्क के नागरिक हैं तथा भारत के बड़े से बड़े व्यक्ति को भी शर्म से सर झुका लेना पड़ता है तो कोई आश्चर्य नहीं यदि उनमें से कुछ इस दशा से खीजकर, परेशान होकर, सब कुछ कर गुज़रने पर आमादा हो गये

हैं। मुझे विश्वास है कि एक भी सच्चा अंगरेज यह न चाहेगा कि भारत सदा ही इंगलैण्ड की अधीनता में पड़ा रहे, और न एक भी भारत वासी उस सम्बन्ध को विच्छेद कर देना चाहेगा अगर अंगरेजों ने अपने व्यवहार से उस सम्बन्ध को अक्षुण्ण बनाये रखने का अधिकार प्राप्त कर लिया है। स्वतंत्रता की मांग निराशा की मांग है। लोग कहते हैं कि यदि प्रेस के इस प्रचार में सत्यता है कि १५० वर्ष अंगरेजों की अधीनता में रहने के बाद भी आज अंगरेजों के चले जाने से हम फिर अनवस्था में पड़ जाँयगे तथा संकट में फँस जांयगे तो अंगरेजी हुकूमत पर यह सबसे बड़ा लांछन है और स्वराज्य का समर्थक यह सबसे बड़ा प्रमाण है। यदि ब्रिटिश हुकूमत की कीमत हमें अपनी असहायावस्था की शक्ल में ही चुकानी पड़े तो उस हुकूमत का विरोध करना हमारा धर्म है। मिथ्या भय दिखाने वाले इन कथनों की सच्ची क़ीमत हम जानते हैं। यदि अंग्रेज चिल्लाते हैं "शासन हम ही करेंगे" तो भारत से उत्तर आता है "हम तुमसे कोई संबन्ध नहीं रक्खेंगे।" अगर अंग्रेजी प्रेस कहता है कि आज़ादी का अर्थ अराजकता तथा रक्तपात होगा तो असहयोगी जवाब देता है कि "हमें संसार में गुलामी भोगने की अपेक्षा नरकमें भी रहना मंजूर है।" वह कहता है कि "उत्तरी एवं मध्य एशिया के वर्वर निवासियों के द्वारा खाया जाना भी हमें पसन्द है, दिन दिन बढ़ने वाला शोषण हम नहीं बर्दाश्त कर सकते।" अजीब चक्कर है। अंग्रेज़ अपनी

अशांत आत्मा की फटकार से बचने के लिये अनेक प्रकार से अपने मन को संतोष देता है। वह मौके बेमौके कहा करता है कि भारतवासी नालायक हैं; उसकी भक्ति अव्यावहारिक आदर्शों में है; उसकी समाज-व्यवस्था दोषों से पूर्ण है; वह निरक्षर है; मूर्ख है इत्यादि। यह बातें ब्रिटिश-राज्य के समर्थन में कही जाती हैं। किन्तु इनमें से प्रत्येक भारतवासी की क्रोधाग्नि को भड़काती है, उसे बहुत अधिक उत्तेजित करने में सहायक होती है। जो बातें अंगरेज अपने समर्थन में कहता है वही भारतवासियों को और भी उसके विरुद्ध कर देती हैं। यदि अंगरेजों की हिन्दुस्तानियों के लिये घृणा तथा हिन्दुस्तानियों का अंगरेजों में अविश्वास इसी क्रम से चलता रहा तो, अवश्य ही, किसी दिन मानता पराकाष्ठा को पहुँच जायगा। अगर मनुष्यों को ये दोनों समुदाय इस प्रकार के वातावरण में अधिक समय तक बने रहे; एक ओर अनुग्रह तथा तिरस्कार की भावना, आश्रय-दान तथा दया की भावना बनी रही और दूसरी ओर संदेह तथा अविश्वास, घृणा तथा कटुता की भावना घर किये रही, तो भयंकर संघर्ष न सही कम से कम घोर संकट की अवस्था अवश्य ही उत्पन्न हो जायगी। इंगलैण्ड और भारत की मित्रता, जो आज संसार का सबसे महान प्रश्न है, संसार में शान्ति स्थापित करने के लिए आगे को कदम बढ़ाना है और यह ऐसा आदर्श है जिसके लिये मूक जनता धूर्तों तथा पागलों की बिना परवाह किये हमें बाधा-संकुल मार्ग से चलना होगा, साहस के साथ यत्न करना होगा।

जहाँ तक मैं समझता हूँ भारत के नेता इस समस्या का सम्मान-पूर्ण समझौता करने को सदा ही तैयार हैं और उनमें से उग्र नीति के माननेवाले भी एक ऐसी सभा का स्वागत करेंगे जो प्रश्न के औचित्य का निर्णय करे, जो भारत के हित का खास खयाल रक्खे तथा जो उसके अपने भाग्य का नियंत्रण स्वयं करने के अधिकार को स्वीकार करले। एक मेज़ के चारों ओर बैठ कर ऐसा सादा करने से कोई लाभ नहीं जिसमें एक पक्ष बराबर यह कोशिश करे कि जब तक मुमकिन हो अपने को मजबूती के साथ जमाये रहे और दूसरा पक्ष इस प्रयत्न में रहे कि जितनी जल्दी हो सके अधिक से अधिक शक्ति घसीट ली जाय। दूकानदारी की मनोवृत्ति लेकर किसी समझौते पर पहुँचने से कोई लाभ न होगा। भारत को शांति कायम करने के लिए सदाशयता, पारस्परिक विश्वास तथा अन्य पक्ष के दृष्टि-कोण को उदारता पूर्वक समझने एवं उचित पात्रों अथवा आदर्शों के प्रति श्रद्धा रखने की आवश्यकता है। वह शान्ति की पद्धति से इसे प्राप्त करने को व्यग्र है। पारस्परिक लाभ के लिए स्थापित सुदृढ़ राजनीतिक सम्बन्ध, अखंड आर्थिक विनिमय तथा उचित पारस्परिक औद्योगिक सहायता, योरोप तथा एशिया के महत्वपूर्ण दो जन-समुदायों में ऐसा सांस्कृतिक सम्बन्ध जिससे मानव परिवार के समकक्ष सदस्यों की हैसियत से उपादेय तथा आवश्यक वस्तुओं का विनिमय वे कर सकें, एक श्रेष्ठतर मनुष्य जाति के लिये एक नवीन तथा पूर्ण संस्कृति का निर्माण; ऐसा

प्रयास जो समस्त मानव जाति को एक ही परिवार के भिन्न भिन्न व्यक्तियों की भांति एकता के सूत्र में बाँध सके शायद पाश्चात्य परम्परा के अनुकूल नहीं है पर भारत का तो निस्सन्देह यही महान् आदर्श है। अगर ब्रिटिश-सम्पर्क का यही अर्थ है तो भारत उस सम्बन्ध का स्वागत करेगा। किन्तु यदि साम्राज्य का अर्थ प्रधान-राष्ट्र के लिए बाजार जुटाना है, यदि उसका अर्थ दुनिया के कोने कोने में अपना झंडा फहराने के लिये सिपाही, गोला-बारूद तथा पैसा जुटाना है; यदि उसका अर्थ युद्धभूमि पर रूसी, जर्मनी आदि एक प्रकार के सिपाहियों के खिलाफ दूसरे नाना वर्ण के सिपाही अंगरेज, हिन्दुस्तानी, मिस्री आदि—जुटाना है तो वह साम्राज्य एक बर्बरता है, वह प्रतिक्रियावादी एवं संसार की शान्ति के लिए महान् खतरा है। भारत के शान्ति के उपासकों को एक स्वर्णावसर मिल गया है कि वे भारत को इंगलैण्ड से सम्बद्ध करने के व्यापक उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रयत्न करें। यह सम्बन्ध पूर्व तथा पश्चिम के प्राचीन संघर्ष को समाप्त करने में सहायक होगा तथा इससे मानव जाति का चिरस्थायी लाभ होगा। अगर कोई राजनीतिक व्यवस्था मनुष्यों के दो बड़े बड़े दलों को, एक एशियाई तथा दूसरा योरोपीय, न्याय, समानता, तथा अनुराग के आधार पर एकता के सूत्र में बाँध सकी तो वह संसार-संघ के लिये पथ प्रशस्त कर देगी। इसके लिये केवल सदाशयता तथा सहानुभूति की आवश्यकता है। क्या उनका भी मिलना कठिन है? अपनी मृत्यु से कुछ समय पहिले लार्ड हैल्डेन

ने मुझे एक पत्र में लिखा था—"अंगरेजों में कल्पना-शक्ति का बहुत अभाव है। अतएव हम यथोचित सहानुभूति प्रदर्शन में असफल रहते हैं।" सैद्धान्तिक न्याय, व्यावहारिक सहजबुद्धि, वस्तुस्थिति का यथार्थ ज्ञान तथा संसार शान्ति का अनुरोध है कि भारत स्वाधीन हो और सूक्ष्म-दृष्टि तथा दूरदर्शी महानुभावों का कर्तव्य है कि उसकी प्राप्ति में सहायता करें।

अपने भारतीय मित्रों से मेरा निवेदन है कि केवलमात्र उच्च आदर्श पर्याप्त नहीं है, उसके लिये उपयुक्त व्यवहार की भी आवश्यकता है। हमारे आदर्श बिलकुल बेकार हैं यदि हम उन्हें कार्यान्वित नहीं कर सकते। जिस ढँग से कानून के विद्यार्थियों तथा सामान्य-शासन-विभाग में पद पाने की तैयारी में लगे भारतीय छात्रों ने पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव पास कर दिया है उससे पता चलता है कि गम्भीर समस्याओं पर हम कितनी असमीक्ष्यकारिता, कितनी ला-परवाही के साथ, विचार एवं कार्य किया करते हैं। संसार में प्राकृतिक अनवस्था नहीं है। ऐसा नहीं है कि कारण कार्य में कोई सम्बन्ध ही न हो। हमारे इतिहास में भी एक नियम काम करता है। अपनी वर्तमान दशा का कारण हम स्वयं हैं। अगर हम यह कहते अथवा समझते हैं कि हम में कोई दोष नहीं तो इससे हम देश का उपकार नहीं करते। इस कल्पना से कोई लाभ नहीं कि हम निर्दोष हैं, स्वतंत्रता मिलते ही हमारे गृहोद्यान में, प्रमदावन में, स्वर्णयुग का पुष्प खिल उठेगा। हम अपने अज्ञान

तथा दुःख को, दारिद्र्य तथा बेकारी को दूर करने में समर्थ न हो सकेंगे। यदि हमें जीवन में सफलता पाना है तो हमें अपनी दुर्बलताओं का निराकरण करना होगा तथा अपने अच्छे गुणों को विकसित करना होगा। बातें बनाने से स्वराज्य नहीं मिला करता। सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में अभी हमें काफ़ी सुधार करना है। हमारे सामाजिक संगठन में एक गुप्त क्रान्ति हो रही है। पुराने बन्धन शिथिल हो रहे हैं, नई व्यवस्था का प्रादुर्भाव हो रहा है। धीरे धीरे किन्तु निश्चित रूप से लोग गाँव छोड़ छोड़ कर शहरों में इकट्ठे हो रहे हैं। स्त्रियों को जो राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में अधिकार मिले हैं उनका पूर्ण प्रभाव अभी तक हमारे जीवन पर नहीं पड़ सका है। हम पीछे की ओर नहीं लौट सकते। हमें विज्ञान तथा सामाजिक संगठन की अधिकाधिक आवश्यकता है। दुरूह प्रश्नों को भाग्य के भरोसे छोड़ देना साहस का काम नहीं है। यदि जानते हुए, बुद्धिपूर्वक हम अपने विवेक का प्रयोग इन प्रश्नों को हल करने में करें तो वे निश्चय ही हल हो सकते हैं। हाँ, यह बात हमें भलीभाँति समझ लेनी होगी कि हमारी राष्ट्रीय मनोवृत्ति का क्या रूप है, उसकी उदात्त-चेतना के घटकावयव क्या हैं। शारीरिक दुर्बलता, हमारी क्षीणकाय मानवता, सामाजिक कुरीतियों का सीधा फल है। लोगों की शारीरिक दुर्बलता का कारण अनुपयुक्त भोजन तथा अस्वास्थ्यकर गन्दा वातावरण है। अनेक समस्याओं पर शुद्ध मस्तिष्क से विचार करना है। केवल-मात्र आन्दो-

लन से अधिक लाभ नहीं होने का। आपको योजना प्रस्तुत करके निर्माण का कार्य करना होगा। जब आप भारत लौट कर जाँयगे और वहाँ आप देखेंगे कि हज़ारों काम करने को पड़े हैं तो आप क्या करेंगे ? क्या आप ऐश्वर्य, सम्मान एवं शक्ति के प्रलोभन में पड़ कर आज के इन आदर्शों को भूल जाँयगे ? यह प्रश्न मैं इसलिए पूछता हूँ क्योंकि मैं ऐसे लोगों को जानता हूँ जो अपने विद्यार्थी-जीवन में ईमानदार, सच्चे तथा पूर्ण साहसी थे किन्तु जैसे ही उन्हें भारतवर्ष की हवा लगी उन्होंने अपना रूप ही बदल दिया। वह वातावरण ही सच्ची कसौटी है। ज्यादा लोग उसमें खरे नहीं उतरते। क्या आप भी उन्हीं बहु-संख्यक लोगों में होना चाहते हैं जिहोंने अपने विश्वविद्यालय युग में बड़े ही मोहक एवं मधुर स्वप्न देखे पर जो बाद के जीवन में घोर जन-विद्वेष अथवा वामशीलता के पुजारी बन गये ? प्रत्येक को अपने हृदय को टटोल कर देखना होगा। आज भारत आशा-भरी आँखों से आप की ओर देख रहा है और वह चाहता है कि आप में से प्रत्येक धर्म तथा वर्ण सम्बन्धी फूट फैलाने वाली मनोवृत्ति का विरोध करे और इस प्रकार उसके गौरव को और भी बढ़ावे।

बौद्धिक सहयोग

हमारा युग महान् है। हमारे सामने नया इतिहास बन रहा है। सब विद्वानों का कर्तव्य है कि घटनाओं को समझें, उनका संचालन करें और इस प्रकार, सक्रिय रूप से, उनकी प्रगति में सहायक बने।

विज्ञान तथा संगठन संसार को एकता के सूत्र में बाँध तो रहे हैं परन्तु अभी तक दुनियाँ ने एक होकर काम करना आरम्भ नहीं किया है। हमारे राजनीतिक विभाजन, तथा आर्थिक बाधाओं ने एक दुनियाँ को अनेक स्वतंत्र टुकड़ों में बाँट दिया है। एक सभ्य समाज साठ सत्तर पूर्ण रूपेण स्वतंत्र राष्ट्रों के द्वारा शासित हो रहा है। हमारा धर्म है कि हम विश्वात्मा, विश्व-संस्कृति, विश्वान्तः-करण का निर्माण करें तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहानुभूति तथा सद्भाव का प्रचार करके इस संसार को विश्व-संस्कृति के

सृजन के हेतु नवजीवन एवं नवस्फूर्ति से ओतप्रोत कर दें।

विचारों का भी अपना महत्व तथा उपयोगिता है पर अकेले विचार काफ़ी नहीं हैं। पिछले महायुद्ध में विद्वानों ने साधारण जनता की अपेक्षा अधिक दुर्भावना प्रदर्शित की थी। अकेला ज्ञान-विस्तार युद्ध रोकने में कभी समर्थ नहीं हुआ है। हम मुँह से तो शान्ति की दुहाई दिया करते हैं पर बड़ी आसानी से सामूहिक उत्तेजना एवं राष्ट्रीय अहंकार के शिकार हो जाते हैं। जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के समर्थक, सामाजिक उत्थान एवं मानव-बन्धुत्व के विधायक हैं, उनमें न केवल बुद्धि-प्रखरता ही होनी चाहिये वरन् नैतिक साहस भी होना चाहिये जिससे अपने आदर्शों के लिये वे मुसीबतों का सामना कर सकें। जिनेवा में बैठकर हम संसार में शान्ति स्थापित करने की चर्चा करते हैं पर सुधारों में रोड़े अटकाते हैं; निःशस्त्रीकरण में टालमटूल करते हैं; और प्रत्येक उदारभावना से दूर भागते हैं।

हमें बौद्धिक परिवर्तन की नहीं, मनोवैज्ञानिक रूपान्तर की आवश्यकता है। जब तक ऐसे व्यक्ति अथवा समुदाय प्रत्येक देश में नहीं उत्पन्न होते जो शान्ति के लिये अपना बलिदान करने को तैयार होजाँय तब तक हम लक्ष्य तक कभी नहीं पहुँच सकते।

मेरा विश्वास है कि पूर्वी राष्ट्र, भारत और चीन, जो स्वभाव तथा परम्परा से शान्तिप्रिय हैं, नवसंसार-संस्कृति

के विकास में काफ़ी सहायता दे सकेंगे। वे पश्चिमी राष्ट्रों के बुद्धि-प्रधान-उपयोगितावाद के आवश्यक पूरक एवं संशोधक हैं। वे राजनीति की दृष्टि से भले ही पिछड़े हों पर राजनीति ही हमारा चरम आदर्श नहीं है और न राजनीतिक आदर्श ही मनुष्य के लिये अकेला आदर्श है। यदि हम आध्यात्मिक आदर्श के भक्त हैं, यदि हम सत्य, न्याय, शान्ति एवं प्रतिष्ठा के सेवक हैं, तो प्राणों की बाजी लगाकर भी हमें इस नीति-वचन को अपने जीवन में चरितार्थ करना होगा—"जब तक एक भी व्यक्ति जेल में बन्द है मैं मुक्त नहीं हूँ;" "जब तक एक भी राष्ट्र गुलाम है, मैं उसी राष्ट्र का नागरिक हूँ।"

महिलाओं से अनुरोध

यह देख कर हृदय उत्साह से भर उठता है कि कम से कम महिला-सम्मेलन में तो ऊँच नीच, हिन्दू मुसलमान, योरोपियन भारतवासी, सरकारी तथा गैर सरकारी की भेदभावना का विचार नहीं रक्खा जाता। इन सम्मेलनों का यह ढंग कुछ ऐसा है कि वह हम पुरुषों के लिये तिरस्कार तथा फटकार का काम करता है और मैं आशा करता हूँ कि आप का यह उद्देश्य हमें अवश्य ही प्रभावित करेगा। सभी देशभक्तों को यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता होती है कि आप साम्प्रदायिकता से, उस शब्द के जितने अर्थ सम्भव हैं सभी रूपों में, मोर्चा ले रही हैं। हम आशा करते हैं कि आपका यह काम बराबर चलता रहेगा।

आपका सम्मेलन बड़ी विनम्रता से घोषित करता है कि उसका कार्यक्षेत्र शिक्षा तथा समाज सम्बन्धी सुधारों

तक ही सीमित है। आप को इस बात की आशंका नहीं करना चाहिये कि चूँकि कार्यक्रम में राजनीतिक उद्देश्यों को प्रधानता नहीं दी गई है अतएव आप केवल गौण विषयों को ही लेकर चल रही हैं। आप भी बहुत प्रत्यक्ष रूप से देश के स्वाधीनता-संग्राम में सहायता दे रही हैं। जिस अनुपात से हमारे बीच सामाजिक तथा साम्प्रदायिक भेदभाव तथा निरक्षरता का प्रसार है ठीक उसी अनुपात से हम राजनीतिक क्षेत्र में पिछड़े तथा असफल हैं। यदि आप इनका विनाश कर सकीं तो आप हमारे राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता देंगी। हम स्वराज्य कभी नहीं प्राप्त कर सकते, और यदि प्राप्त भी करलें तो अधिक दिन उसकी रक्षा नहीं कर सकते, जब तक कि साम्प्रदायिक तथा सामाजिक कठिनाइयों को दूर नहीं किया जाता।

दूसरे, स्वराज्य पाने से ही क्या लाभ अगर स्वराज्य पाकर हम एक सुंदर संस्कृति की सृष्टि न कर सके। विज्ञान तथा राजनीति हमारे जीवन की रक्षा, रहने तथा खाने का प्रबन्ध एवं अव्यवस्था से बचाव कर सकती है पर मातृत्व, स्नेह एवं इसी प्रकार के अन्य पारस्परिक सम्बन्धों की तुलना म, जो जीवन की प्रधान परिस्थितियाँ हैं, वह क्षणस्थायी तथा निरर्थक हैं। संस्कृत जीवन की परीक्षा तो जीवन-सागर के तटस्पर्श में नहीं वरन् उसकी गम्भीर वास्तविकता का शक्ति एवं धैय के साथ सामना करने में है।

मैं मानता हूँ कि स्त्रियों तथा पुरुषों को उस क्रूर वाह्य शासन से छुटकारा मिलना चाहिये जिससे वे आज पीड़ित

हैं। यह आवश्यक है कि उस मूर्खता का अन्त कर दिया जाय जो अब भी स्त्रियों का दासी, सामाजिक अलंकार अथवा काम-तृप्ति का साधन ही मानने का हठ करती है। प. यह तो केवल आधा ही काम हुआ, निषेध पक्ष, विधि पक्ष है व्यक्तिगत शक्तियों का विकास। यदि हम दूसरे पक्ष की अवहेलना करेंगे तो इसमें हमारे लिये खतरा है। देखिये न उन देशों में क्या काण्ड घटित हो रहा है जहाँ निषेधात्मक बाह्य शासन से मुक्ति मिल चुकी है। किन्तु विधि-पक्ष पर काफी जोर नहीं दिया गया है। उन लोगों को धर्म, पुजारी, नरक पुलीस किसी का भी भय नहीं रह गया है फिर भी वे लोग बाइस वर्ष की ही अवस्था में संसार से ऊब जाते हैं। उन्हें स्वतन्त्रता मिल चुकी है पर वह ऐन्द्रजालिक फल की भाँति निरर्थक सिद्ध हो रही है। उन मुक्त महिलाओं का समाज में स्थान है, उन्हें धन प्राप्त है, पद प्राप्त है और हाँ ज्ञान भी उनके पास है, पर इससे क्या होता है? उनकी समझ में नहीं आता कि वे अपने को लेकर, इन सबको लेकर, क्या करें। वे ऊपरी कामों में लगी इधर उधर मारी फिरती हैं, एक को ढकेल रही है, दूसरी को घसीटे लिये जाती हैं तो तीसरी को ऊपर लादे हैं, एक गांठ खोलती है तो दूसरी को मजबूती से बाँधती हैं, एक आदमी को लांच्छित करती है तो दूसरे को अभिशप्त, वे क्रोध करती हैं, मज़ाक उड़ाती हैं, बिगड़ती हैं और सभी की शिकायत करती घूमती हैं, कहती हैं मालूम होता है प्रकृति ही विरुद्ध हो गई है, जिन्दगी मजे में नहीं

वे अपने मनोवेगों का अपव्यय निरर्थक मूढ़ताओं पर किया करती हैं, वाह्याडम्बर तथा कृत्रिमता में ही उनकी सम्पूर्ण शक्ति नष्ट हो रही है। समाज से बाहर, एकान्त में, उन्हें देखने से ऐसा मालूम पड़ता है जैसे वे पीड़ित, त्रस्त, भयातुर एवं अधीर हैं। किसी अज्ञात विषाद के भार से वे दबी जा रही हैं। ज्योंही कोई बड़ा शोक अथवा विपत्ति आती है उनकी सजग चेतना लुप्त हो जाती है और वे पागल हो जाती हैं। जीवन ठीक वैसा ही हो रहा है जैसा हम उसे सिनेमा में चित्रित देखते हैं, एक मूढ़ की कही कथा के समान जिसमें करुणा है, कल्पना है पर जिसका कोई अर्थ, कोई उद्देश्य नहीं। उनका जीवन लक्ष्य हीन हो रहा है। वाह्य-बन्धनों से मुक्ति पा लेना ही अकेला काफ़ी नहीं है। ऐसा समाज जहाँ प्रत्येक व्यक्ति जो चाहे कर सकता है, जो चाहे पढ़ सकता है, उस समाज से ज्यादा खतरनाक है जहाँ प्रत्येक कार्य पर सामाजिक रूढ़ियों अथवा धार्मिक पण्डितों का नियंत्रण रहता है। बाहरी बन्धनों से जनता को मुक्त करना आवश्यक है, पर उसे अपनी ही वासनाओं एवं मनोवेगों की दासता से मुक्त करना भी—उस गुलामी से भी आज़ाद करना जो अधिक खतरनाक तथा अधिक अपमानकर है—उतना ही जरूरी है।

क्या मैं सादर सविनय निवेदन कर सकता हूँ कि समाज-सेवा का अधिकार केवल उन्हीं को है जो हृदय के सच्चे और धुन के पक्के हैं। विलास-पूर्ण जीवन तथा छिछली भावुकता से यह सत्यता एवं शक्ति नहीं प्राप्त की जा

सकती। केवल वैज्ञानिक साधनों अथवा मानवहित-चिन्ता के द्वारा एक नवीन समाज-व्यवस्था की सृष्टि नहीं हो सकती। अधिकांश परोपकारनिष्ठ सज्जन समाज-सुधार-समितियों अथवा बन्धुत्व-प्रसारक-मण्डलियों के सदस्य बन कर अथवा उनके लिये कुछ चन्दा देकर ही आत्मतुष्टि का अनुभव कर लेते हैं। यह भी उत्तम कार्य्य है और उसके महत्व को कम करना मेरा उद्देश्य नहीं। पर अपने ही जीवन को अधिक गम्भीर, अधिक गुणास्पद बनाने की तुलना में वह कहाँ ठहर सकता है। ऐसे ही गम्भीर महात्मा मानव-जाति को वह शक्ति-प्रदान करते हैं जिसकी सहायता से वह दैनिक-जीवन में आने वाले मनस्ताप को सह सके, न कि वे सुधार व्यवसायी अथवा आत्मचिकित्सक जिनकी दृष्टि में सब दुःख ताप समान होते हैं। दीन मनुष्य केवल मजदूरों की बस्तियों में ही नहीं पाये जाते और न घर-द्वार-हीन रास्ते पर पड़े भिखारियों तक ही वे सीमित हैं। असहाय मनुष्य तो भीड़ से भरे दफ्तरों में, जन-संकुल-प्रमोद-शाला में, शून्य शयनागारों में भी पाये जाते हैं जहाँ बड़ी बेचैनी के साथ करवटें बदल बदल कर इन्द्रियातीत व्यथा का अनुभव वह किया करते हैं। यदि हम उनके नैतिक आयास-प्रयासों का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें उनके निकट मनुष्य बन कर जाना होगा समाज के उन्नायक बन कर नहीं, जिससे वे यह अनुभव कर सकें कि संसार में वे एकान्त निस्सहाय, निरुपाय, नहीं हैं। पतितों तथा दीनों के प्रति सहानुभूति एवं स्नेह का प्रदर्शन उनके घावों की मलहम-पट्टी करना है। मनुष्य का

हृदय स्नेह और समवेदना के द्वारा ही जाना जा सकता है, प्रश्नावलियों अथवा मानसिक-चिकित्सा-भवन के परीक्षण से नहीं। वह सौहार्द्र पाने को लालायित रहता है पर शुष्क कुतूहल से भागता है। शान्ति तथा गम्भीरता के साथ सम्पर्क में आने वाले पुरुष और स्त्रियों के हृदय को समझने में यदि आप अपना दिन बिता सकें, यदि संसार को आप उनके दृष्टिकोण से देख सकें, उससे कहीं अधिक आप समाज का उपकार कर सकेंगे जितना दफ्तर में मेज के सामने बैठ कर, सार्वजनिक सभाओं में विवरण-पत्रिका बाँटकर अथवा पाकेट बुक और पेन्सिल लेकर घूमते फिरने से सम्भव है। यदि आप व्यक्ति निर्माण का कम उत्तेजक पर अधिक श्रम-साध्य कार्य अपने हाथ में ले लें तो समाज का नव-निर्माण अपने आप हो जायगा।

जन-तंत्रात्मक-संघ का समर्थन

दुनियाँ ने अनेक प्रकार के ज़माने देखे हैं। हमारा मौजूदा ज़माना सभ्यता का प्रथम युग कहा जा सकता है। यातायात के नवीन शीघ्रगामी साधनों के आविष्कार तथा प्रसार ने मनुष्यों एवं विचारों के आवागमन में सुविधा करके संसार को एकता, अविभक्तता, प्रदान कर दी है। जातियों तथा संस्कृतियों के पारस्परिक सम्मिश्रण के फल-स्वरूप यह सम्भव हो गया है कि सम्पूर्ण संसार एक नैतिक सम्प्रदाय, एक राजनीतिक संघ, बन जाय जिसमें मनुष्य-जाति को शान्ति, सुव्यवस्थित शासन, आर्थिक समृद्धि, न्याय तथा स्वतंत्रता सर्वत्र सुलभ हो सके। यही वह आदर्श है जिसकी प्राप्ति के लिये अतीत इतिहास प्रयत्नशील था। ऐसे समाज के लिये मनुष्य के हृदय में स्वाभाविक स्नेह है। सामान्य मनुष्य साधु होता है, शान्ति पसन्द करता

है; रक्तपात से घृणा करता है एवं युद्ध में आनन्द की उपलब्धि नहीं करता। इसी आधारभूत मानवता के कारण मनुष्य जाति अब भी शेष है। बच्चे के पालनेके पास बैठी मां, खेत में हल जोतने वाला किसान, प्रयोगशाला में व्यस्त वैज्ञानिक, तथा स्नेह एवं उपासना में संलग्न युवक और वृद्ध हमें उसी मानवता का दर्शन कराते हैं। यही मानव-प्रेम, समाज-संगठन की नैतिकता में यही अटल श्रद्धा, अनेक अत्याचारों को सहन करने में मानवात्मा को दृढ़ता दे सकी है और भविष्य में भी देती रहेगी।

पर वे मनुष्य जिनके सम्पर्क में हम आते हैं कृत्रिमता से भरे हैं। हमारी प्रकृति कुछ है, समाज हमें कुछ और बना देता है। अपने साथी मनुष्यों के प्रति हमारा सम्बन्ध अस्वाभाविक एवं कृत्रिम हो गया है। हमें नहीं सिखाया जाता कि हम मनुष्य हैं वरन् यह कि हम हिन्दू अथवा मुसलमान हैं; फ्रेंच अथवा जर्मन हैं; यहूदी अथवा गैर-यहूदी हैं। बर्बर नियमों तथा संस्थाओं के कारण हम अपनी स्वाभाविक सहानुभूति एवं बन्धुत्व की भावना से दूर जा पड़े हैं। भय, सन्देह, क्रोध की भावनायें एक दूसरे के प्रति रखते हैं और जाति, राष्ट्र, वर्ग, अथवा धर्म के काल्पनिक भेदों के नाम पर ऐसी लड़ाइयाँ लड़ते हैं जो प्रतिवर्ष अधिक विनाशकारी होती जा रही हैं। यदि स्थायी रूप से हम समाज को अन्याय पूर्ण, अस्वाभाविक ढंग से संगठित करना चाहेंगे तो अनवस्था तथा विरोध बिना बढ़े रह नहीं सकते। हमारी मौजूदा दिक्क़त का मूल कारण

व्यक्ति के आधार पर संगठित स्वतंत्र संसार है। अगर हम नीति के सिद्धांतों की बिलकुल परवाह नहीं करते, अगर हम साधारण मनुष्य की मूलप्रवृत्तियों की उपेक्षा करते हैं तो इसका खमियाजा हमें उठाना पड़ेगा।

× × ×

मनुष्यों के मस्तिष्क के आधारभूत मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों के ऊपर ही क्रान्तियाँ निर्भर रहती हैं। बेन जानसन का कहना था कि शरीर को विनाश से बचाये रखने के लिये आत्मा की एक विशिष्ट मात्रा अनिवार्य है। यदि हमें संसार को विनाश से बचाना है तो हमें उससे आत्मिक सम्बन्ध स्थापित करना ही होगा। हमें अपनी आत्मा के उस नगर को फिर से बसाना होगा जिस पर अहंकार और शक्ति के झूठे देवताओं ने घातक आक्रमण कर दिया है तथा स्वार्थ और मूर्खता ने जिसे निश्शक्त कर रक्खा है।

मनुष्य जाति की एकता की नई चेतना लेकर एक नई पीढ़ी उत्पन्न हो रही है। वह समझती है कि शान्ति की स्थापना के लिये काफ़ी प्रयास एवं साहस की आवश्यकता है। उसे मालूम है कि संसार में शान्ति के लिये संसार-व्यापी न्याय की आवश्यकता है तथा उसकी उपलब्धि में बाधा डालने वाले कारण हैं हमारे दूषित हृदय, हमारा अहंकार तथा ईर्ष्या, दूसरों के धन से सुख एवं संग्रह करने की हमारी वासना। राष्ट्रीय उच्चाभिलाषा तथा जातीय क्षोभ के कारण हम यथार्थ उद्देश्य को समझ ही नहीं पाते और न दूर-दृष्टि ही रख पाते हैं। जब तक हम अन्याय और भय के मूल को

नहीं मिटा देते तब तक संसार में बाधाहीन शान्ति की स्थापना सम्भव नहीं। नीति-परायण संसार के आदर्श का व्यक्तिगत अथवा सामूहिक मूर्खता, लोभ एवं अत्याचार की शक्तियों के साथ जो निरन्तर संघर्ष चलता रहा है उसका इतिहास ही मानव जीवन का इतिहास है। हमें देश-भक्ति की भावना में ऐसा सुधार कर लेना होगा जिससे कि वह मनुष्य से ऊपर उठकर मनुष्य-जाति तक पहुँच सके। एक विश्व-सम्मेलन का आयोजन किया जाय जो भूमि सम्बन्धी झगड़ों, कच्चे माल के नियंत्रण, तथा आनुषंगिक निश्शस्त्रीकरण की सम्भावनाओं की जाँच करे और छोटी बड़ी, शक्तिशाली अथवा कमजोर सभी राष्ट्रों में स्वराज्य की स्थापना करे। यदि शक्तिशाली राष्ट्र इस कार्य में शुद्ध हृदय एवं इस पूत भावना से सहयोग दें कि व्यक्तियों की ही भांति राष्ट्रों का गौरव संग्रह में नहीं, विसर्जन में है तो लक्ष्य की प्राप्ति बहुत कुछ सरल हो जाय।

ब्रिटेन और भारत

अपने साम्राज्य को स्वतंत्र राष्ट्रों का संघ बनाकर इंगलैंड उदार एवं जन-तंत्रात्मक सभ्यता का हित कर सकता है और नूतन-संसार-व्यवस्था के लिये यह उसका सर्वोत्कृष्ट दान होगा। उसकी वैदेशिक अथवा भारतीय नीति को समझना कठिन है। समझ में नहीं आता कि इंगलैण्ड और फ्रांस तानाशाहियों के उदय एवं शक्ति-संचय को, अनुमोदन न सही, उदासीनता की भी दृष्टि से कैसे देखते रहे। यदि वर्तमान नीति से भविष्य में भी काम लिया जाता रहा तो शीघ्र ही हालैण्ड और बेल्जियम, स्विस्ट्ज़रलैण्ड और स्कैण्डीनेविया बर्लिन-रोम धुरी में सम्मिलित हो जाँयगे। स्पेन की लड़ाई के बाद किस प्रकार की राज्य-व्यवस्था वहाँ पर बनेगी इस सम्बन्ध में आज भी ब्रिटिश सरकार सचमुच उदासीन है। कोई भी निश्चयपूर्वक नहीं

कह सकता कि उपनिवेशों के सम्बन्ध में अथवा यूक्रेराइन में जर्मनों के घुस जाने के सम्बन्ध में इंगलैण्ड क्या करेगा। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि इंगलैण्ड के शासकों में वर्ग-भावना ने राष्ट्र-प्रेम पर विजय पा ली है। दूसरा कारण यह हो सकता है कि अब इंगलैण्ड संसार का सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र बने रहने की स्वाभाविक इच्छा तथा महत्वाकांक्षा खो चुका है और इसीलिये उसने दूसरी शक्तियों से हार मान ली है और स्वयं निश्शक्त तथा अपमानित होना अंगीकार कर लिया है।

इस अव्यवस्थित संसार में, मालूम पड़ता है, हमारी स्थिति निरापद है और किसी हद तक सभ्यता के मधुर फलों का भी उपभोग हम कर रहे हैं। ब्रिटिश साम्राज्य में हम हीन एवं अधीन समझे जाते हैं पर जहाँ तक रक्षा का सम्बन्ध है हम बड़ी ही असहाय दशा में हैं। सुदूर पूर्व में अभी से हमारी शान्ति एवं सुरक्षा के लिये भयानक खतरा बढ़ना आरम्भ होगया है जिसने श्याम और ब्रह्मा में कम्पन उत्पन्न कर दिया है। जर्मनी इस कोशिश में है कि एशिया-माइनर, ईरान, इराक़ और अफगानिस्तान से होकर भारत की सीमा तक अपने प्रभाव को फैला दे। संसार की इस संकटापन्न परिस्थिति में जब कि तीन महान् शक्तियों ने एकमत होकर बल-प्रयोग को ही अपनी नीति का मूल मंत्र बना लिया है यह नितान्त आवश्यक है कि ब्रिटेन एक बार फिर लोक-तंत्र तथा स्वतंत्रता में अपने अटल विश्वास को घोषित करे और सो भी केवल शब्दों में नहीं, प्रत्युत

कार्यों में—सब उपनिवेशों को इन्हीं आदर्शों के आधार पर एकता के सूत्र में अनुस्यूत करके। निजी स्वार्थ, अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य एवं न्याय का अनुरोध है कि भारतवर्ष में स्वराज्य स्थापित हो जाय। प्रधान समस्या भारतवर्ष में संघ-शासन की स्थापना करना है जिसका रूप भारतीय शासन-विधान के आधार पर न निश्चित किया जाय वरन् वह कुछ ऐसा हो जिससे भिन्न भिन्न सम्प्रदायों, प्रान्तों एवं राज्यों में आन्तरिक एकता की वृद्धि हो। जब तक भारतवर्ष अन्य-निर्मित विधान को स्वीकार करने को बाध्य है, वह आजाद कैसे कहा जा सकता है? संसार के श्रेष्ठ इतिहासकार जर्मन थियोडोर मामसेनने एक ऐसे सत्य का प्रतिपादन किया है जिसे आधुनिक जर्मनी भूल गया है पर जिसे ब्रिटेन को स्मरण रखना होगा अगर वह जर्मनी की पद्धति का अनुकरण नहीं करना चाहता; "प्रकृति के जिस नियम के अनुसार छोटे से छोटा जीव भी सर्वोत्तम कलात्मक यंत्र से श्रेष्ठ समझा जाता है, उसी नियम के आधार पर प्रत्येक वह विधान जो नागरिकों में से अधिकांश को आत्म-निर्णय का अवसर देता है परम सुन्दर तथा चरम उदार निरंकुश शासन की अपेक्षा श्रेष्ठ है क्योंकि उसमें विकास के लिये स्थान है जिससे वह जीवित है और यह जैसा है वैसा ही रहेगा अतएव मृत है।" अगर समय रहते इंगलैण्ड ने एक आज़ाद शक्तिशाली भारत का विकास न कर लिया तो उसकी भी वही गति होगी जो उन दूसरे साम्राज्यों की हो चुकी है जो ऐसे ही घमंडी तथा देखने में

इतने ही अटल प्रतीत होते थे। किसी भी राष्ट्र को तब तक पूर्ण विकसित नहीं मानना चाहिये जब तक कि वह अहंकार एवं गर्व से सर्वतोभावेन मुक्त नहीं हो जाता।

संस्कृति का अर्थ

भारत की धार्मिक परम्परा लोक तंत्र की समर्थक है और अगर उसने जन-तंत्र आदर्शों का उचित सम्मान नहीं किया है तो उस अवज्ञा के फलस्वरूप परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़े रहकर उसने दुःख भी कम नहीं झेले हैं। अत्याचार को निश्शब्द सहन कर चुकने से मानव बहुत ज्यादा अनुनयशील हो जाता है। लोकतंत्र वह वस्तु है जिसका निर्माण आत्मा की धधकती हुई भट्टी में होता है। जब मैं लोकतंत्र की बात करता हूँ तो मेरा संकेत प्रतिनिधि-सत्तात्मक संस्थाओं की ओर उतना नहीं रहता जितना मानव सम्मान की ओर रहता है, उस वातावरण की ओर रहता है जिसमें प्रत्येक मनुष्य को आत्मविकास कर सकने का मौलिक अधिकार प्राप्त रहता है। सामान्य मनुष्य तो साधारण नहीं होता। वह बहुमूल्य होता है, निसर्ग के लौह जाल के विरुद्ध अपने स्वाभाविक गुणों पर जमे रहने की शक्ति उसमें होती है। उसके मूलरूप को बिगाड़ना, उसे धूलि एवं रक्त में सानकर मलिन बनाना, बहुत बड़ा अपराध है।

आज लोगों को लोक तंत्र के संतोषकर राजनीतिक व्यवस्था होने में सन्देह होने लगा है। तानाशाहियों के उदय तथा जन-तंत्रात्मक राज्यों के अन्त हो जाने से समस्या और भी जटिल हो गई है। आखिर सामान्य जनता चाहती

क्या है ? ब्राइस कहता था : "कहीं भी सामान्यतया जनता शासन करने की इच्छुक नहीं होती वह तो भली प्रकार शासित होना चाहती है।" तानाशाह राज्य भले ही यह दावा करें कि हमारा शासन बहुत अच्छा होगा पर वे लोकतंत्र के आधारभूत सिद्धान्तों की, क़ानून, मताधिकार अवसर आदि की दृष्टि से स्वत्व-समानता की अवहेलना बराबर करते हैं। हाल की घटनाओं से जैसा प्रकट होता है, लोक-तंत्रात्मक राज्यों में भी नीति एवं संचालन के मुख्य प्रश्नों पर जनता का नियंत्रण नहीं चल पाता। सब बातों का विचार करने से पता चलता है कि इस दोषपूर्ण संसार में लोक-तंत्र-व्यवस्था ही सर्वश्रेष्ठ शासन-व्यवस्था है। इसका मूल सिद्धान्त यह है कि अन्ततोगत्वा प्रजा की स्वीकृति पर शासन का भार होना चाहिये एवं अल्प-संख्यक वर्गों को अपने मत-प्रकाशन की आज़ादी रहना चाहिये। इस अज़ादी के बिना स्वीकृति का कोई मूल्य नहीं रह जाता। जन-सत्तात्मक संस्था में इस बात का प्रबन्ध रहता है कि शक्ति का दुरुपयोग न किया जा सके। ग़ैर-जुम्मेदार ताक़त का इस्तेमाल अकसर ताक़तवर के ही लाभ के लिये किया जाता है। दूसरे, मत-प्रकाशन की आज़ादी ही वह ढँग है जिससे लोगों के दिमाग़ पर सत्य का प्रभाव पड़ सकता है। यदि हम लोगों को अपना स्वतंत्र मत प्रकट नहीं करने देते तो हम सत्य को शक्तिशाली वर्ग का दास बना देते हैं। सामान्य जनता के दिमाग़ में आज जो वैचित्र्यहीन एकरूपता भरी जा रही है और उसे जिस प्रकार मिथ्या-

प्रचार के द्वारा धोखा देकर वास्तविकता के ज्ञान से दूर रखा जाता है उससे इस बात का स्पष्ट पता चलता है कि लोक-तंत्रात्मक राज्य कहलाने वाले देशों में भी कैसे परोपजीवी लोगों की ही प्रभुता है। स्वाधीन देश के लिये स्वतंत्र प्रेस का होना आवश्यक है पर प्रेस को जुम्मेदार होना चाहिये। भ्रष्ट प्रेस सामाजिक जीवन का विषाक्त कर देगा। इसके अलावा लोक-तंत्रात्मक शासन जब अपेक्षाकृत कम कुशल एवं अधिक व्यय-साध्य भी होता है तब भी वह ऐसी शिक्षा-प्रणाली का काम करता है जो जनता को उत्तर-दायित्व पूर्ण व्यवहार करने की शिक्षा देती है। यह व्यव-स्थित, क्रमिक परिवर्तन का भी प्रबन्ध कर देता है। बिना किसी सामाजिक क्रान्ति को उत्पन्न किये अन्य वर्गों को शक्ति हस्तान्तरित की जा सकती है। ऐसे शान्तिपूर्ण वैधानिक परि-वर्तन ही तो सभ्य जीवन के आधार हैं। अगर हम लोकतंत्र की उपेक्षा करते हैं तो परिवर्तन के लिये केवल क्रान्ति का ही मार्ग शेष रह जाता है।

आर्थिक न्याय

प्रजा-तंत्र का अर्थ चरित्र तथा सेवा, योग्यता तथा बुद्धि विषयक पूर्ण साम्य नहीं होता। उसका मतलब सिर्फ यह होता है कि भोजन, स्वास्थ्य तथा शिक्षा के लिये सबको समान अवसर एवं अधिकार प्राप्त हों। आर्थिक न्याय उसका उद्देश्य होता है। यदि हम इससे भी कम में सन्तुष्ट हो जाते हैं तो वह लोकतंत्र नहीं, शुद्ध परिहास है। आर्थिक न्याय में आर्थिक व्यवस्था का नव-संगठन भी सम्मिलित

है। पूँजीवाद की आलोचना भिन्न भिन्न दृष्टियों से की जाती है, पर यहाँ पर मैं केवल यह दिखाने का प्रयत्न करूँगा कि उसका जीवन की लोकतंत्र-नीति पर क्या प्रभाव पड़ता है। पूँजीवाद विस्मयकारिणी विषमता को स्वीकार करके तथा उसके अनिवार्य परिणाम-स्वरूप असंख्य स्त्री, पुरुष तथा बच्चों को निपट ग़रीब एवं उन्नति-सुयोग-हीन बनाकर समाज में एक विक्षोभ उत्पन्न कर देता है। इस विषमता से नैतिक खतरा है। बहुत ग़लत आदर्श को सामने रखकर, बिना रत्तीभर चिन्ता किये कि उनके विशेषाधिकारों का कितना भयानक परिणाम इस व्यवस्था के द्वारा सताये हुये ग़रीब दुखी लोगों पर होगा पूँजीवाद समाज के सम्पन्न वर्गों को विलास एवं अपव्यय का जीवन बिताने के लिये प्रोत्साहित करता है। ऐसे लोगों से हम सब परिचित हैं जो ऐश्वर्य तथा विलास के कारण पतितोन्मुख हो गये हैं, जो समाज में अपने से हीन समझे जाने वाले व्यक्तियों पर अनुग्रह अथवा घृणा की भावना रखते हैं तथा जो अपने से उच्च स्तर के लोगों के प्रति अत्यधिक विनम्रता का प्रदर्शन किया करते हैं। ऐसे समाज का चलाना कैसे संभव हो सकता है जिसमें लाखों आदमियों के लिये जो अलभ्य अथवा अप्राप्य हो वही कुछ थोड़े से व्यक्तियों के जीवन की आवश्यक सामग्री का अंग हो। जहाँ झूठे, कृत्रिम बड़प्पन के ख़याल ने वर्गों में बिलगाव उत्पन्न कर दिया है वहाँ सौहार्द्र हो ही कैसे सकता है, वहाँ तो पारस्परिक सम्बन्ध में कटुता का आजाना, वह प्रकट हो अथवा गुप्त,

अनिवार्य ही है। फिर पूँजीवाद में संग्रह की मूल-प्रवृत्ति को उत्तेजना मिलती है। यद्यपि यह सच है कि व्यक्तिगत लाभ के मोह को हम सर्वथा नहीं मिटा सकते, पर पूँजीवादी भावना तो मानव-प्रवृत्ति के अन्य अंगों को भी जाति अथवा समाज भक्ति, परोपकार-वृत्ति आदि को भी, दबा देती है। सम्पत्ति सफलता का चिह्न समझी जाती है और शोषण सुख के लिये नितान्त आवश्यक। इसके अलावा, लोक-तंत्र का दिखावा भले ही हम करते रहें पर जब तक आर्थिक शक्ति कुछ थोड़े से ही व्यक्तियों में केन्द्रित बनी रहेगी यथार्थ राजनीतिक प्रजातंत्र असफल ही रहेगा। वृत्ति अथवा व्यवसाय के छुट जाने का भय एवं अपने आश्रित परिवार के भूखों मरने का खतरा आदि ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनसे अपना अस्तित्व ही मिट जाने की आशंका होने लगती है। इसलिये यह बिलकुल स्वाभाविक है कि जिन लोगों को यह भय होता है वे अपने को संघ बनाकर संगठित करते हैं और यही संघ संघर्ष का कारण बनते हैं। सम्पत्ति एवं शक्ति के साधनों पर समाज का अधिकार माननेवाली सामाजिक व्यवस्था नैतिक जीवन के लिये कहीं कम हानिकर सिद्ध होगी तथा उससे सामाजिक सौहार्द्र में भी वृद्धि होगी। जिनके दिन चैन से कट रहे हैं उन्हें चिल्ला-चिल्लाकर यह नहीं कहना चाहिये कि भौतिक सुख को विशेष महत्व देना उचित नहीं है। उनकी उदारता उस न्याय का स्थान नहीं ले सकती जिसका अनुरोध है कि पूरे समाज की आर्थिक दशा इतनी अच्छी हो जानी चाहिये

जिससे सब भद्रतापूर्वक रह सकें और सबको विकास के लिये सचमुच समान अवसर मिल सकें। ऐसा नहीं होना चाहिये कि की-हुई सेवा का प्राप्त-आय से कोई सम्बन्ध ही न हो। सम्पत्ति-संग्रह करने का अधिकार तभी मिलना चाहिये जब कुछ सामाजिक कर्तव्यों का पालन किया जाय। अर्थोपार्जन के कुछ साधन तथा एक निश्चित परिमाण से अधिक धन का संग्रह ग़ैरक़ानूनी घोषित कर देना चाहिये। बहुत बड़ी आय को कर लगाकर सीमित कर देना चाहिये। कर लगाना लोकतंत्रात्मक है, सम्पत्ति को ज़ब्त कर लेना अत्याचार है। समाजवादी शासन अत्याचारी बन जाता है और उससे मनुष्य जीवन तथा स्वतत्रता को महान् भय है। परन्तु यह तो उस स्थिति को बनाये रखने के पक्ष में कोई युक्ति नहीं है जिसमें अधिकांश लोगों का जीवन तो बाह्य नियमों से जकड़ दिया गया है और कुछ थोड़े व्यक्तियों को स्वच्छंद छोड़ दिया गया है। सामाजिक क्रान्तियाँ वही लोग करते हैं जिन्हें भूख और स्वप्नों से प्रबल उत्तेजना मिलती है, जो अभाव के मारे हैं तथा जिन्हें सफलता में अटल विश्वास है। भले ही उन्हें विरोधी एवं भयावह परिस्थितियों से भिड़ना पड़े पर उनकी विजय निश्चित है और बुद्धिमानी इसी में है कि परिवर्तन शांतिपूर्ण एवं वैधानिक पद्धति से किये जाँय। कोरे सिद्धान्तवादियों का रचा कार्यक्रम हमारे ऊपर ज़बरन् नहीं लादा जा सकता। उस कार्यक्रम की रूपरेखा तो राजनीतिक संघर्ष के आदान —— में ही निश्चित होगी। उस संघर्ष में भाग लेने वालों

को सोच समझ कर; निःस्वार्थ भाव से ही; इस ओर क़दम बढ़ाना चाहिए।

मनुष्य के हृदय में स्थिति-पालन के लिये जो सहज स्नेह है उसका अनुरोध है कि बड़े से बड़े परिवर्तन भी वैधानिक रीति से ही करने चाहिये। अगर हम किसी झगड़े का फ़ैसला बल-प्रयोग से कर लेते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि हमने युक्ति, सम्मेलन एवं समझौते की लोक-तंत्रात्मक प्रणाली को छोड़ दिया है। सामाजिक क्रान्ति कर देने की उत्कट अभिलाष से शक्ति का प्रयोग करके हमें जन-तंत्रात्मक पद्धति को मिटा नहीं देना चाहिये। प्रत्येक समाज में बल-प्रयोग तथा युक्ति-प्रयोग दोनों का ही अंश रहता है। समाज जितना ही अच्छा होता है बल-प्रयोग का अनुपात उतना ही कम तथा युक्ति प्रयोग का अनुपात उतना ही अधिक होता है। व्यक्ति के अधिकार तथा समाज के प्रति उसके कर्त्तव्यों की सूक्ष्म व्यवस्था में उसे सामञ्जस्य स्थापित करना चाहिये। बिना सामाजिक भावना के समाज अनवस्थित हो जायगा तथा बिना व्यक्तिगत जीवन के समाज प्राणहीन हो जायगा।

पर लोकतंत्र का अर्थ अधोगमन नहीं है। अधिक संख्यक मनुष्यों की उच्च बौद्धिक विषयों के परिशीलन में कोई रुचि नहीं होती। वे बुद्धि-प्रयोग से नफ़रत तथा शारीरिक भोग-विलास से स्नेह रखते हैं। यदि आप उनके खाने पीने का, काम-तृप्ति तथा मुखर मनोरंजन का, समुचित प्रबंध कर दें तो वे चरम सुख का अनुभव करेंगे। आध्यात्मिक जीवन, उनकी दृष्टि में, अकथनीय विषाद से पूर्ण, निरानंद

जीवन है। जिन लोगों का यह विश्वास है कि यदि सब के लिये पर्याप्त मात्रा में सुखोपभोग के साधन जुटाये जा सकें तो समझ लो रामराज्य आ गया, उन्हें किसी बड़े नगर में जाकर देखना चाहिये कि जिन लोगों के पास पर्याप्त धन तथा काफ़ी समय है वे किस प्रकार का जीवन व्यतीत करते हैं। जिसमें ज़रा भी मनुष्यता है वह जब यह देखेगा कि वे लोग अपने पाशविक जीवन से कितने सन्तुष्ट तथ आध्यात्मिक जीवन से कितने उदासीन हैं तो वह उसे महान् शोक एवं दुर्भाग्य का विषय समझेगा। पर उस जीवन पर मुग्ध वे नर-पशु अपने इस दुर्भाग्य का कुछ भी ज्ञान नहीं रखते और अपनी ज़िन्दगी हास-परिहास में, गाने-बजाने में, बड़े चैन से गुजारा करते हैं। कितने खेद का विषय है कि जब हमारे सिर में मामूली सा भी दर्द हो जाता है तो हम पीड़ा के मारे अधीर हो जाते हैं पर गला दबाकर प्राण ले लेने वाली अविद्या का हमें कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। विश्व-विद्यालयों का कर्तव्य है कि वे हमारी दुर्बलताओं का ज्ञान हमें कराते रहें।

निष्कर्ष

साम्प्रदायिक दलों एवं वर्ग-संघर्षों के सम्बन्ध में मनुष्य की जन-तंत्रात्मक आदत का विकास करना परम आवश्यक है। इस आदत का आधार सब गुणों की शिरोमणि सहिष्णुता है जो ज्ञान, आत्म-नियंत्रण एवं शक्ति का परिचायक है। सहिष्णु होना मानव प्रेम एवं सभ्यता से सम्पन्न होना है। असहिष्णु होना अपनी नीचता एवं क्षुद्र-हृदयता को स्वीकार करना है। दूसरों के जीवन को अपनी रुचि तथा मत के अनुकूल बनाने की भावना भय, ईर्ष्या एवं मूर्खता के मिश्रण का ही परिणाम है। युक्ति के द्वारा दूसरों को भी अपने अनुकूल बनाने की कोशिश तो उचित है किन्तु उसमें असफल होने पर जोर जबर्दस्ती करना अनुचित है। भारतवर्ष वह रचना है जिसमें अनेक कुम्हारों की मिट्टी मौजूद है। दूसरी संस्कृतियों एवं सभ्यताओं के प्रति उसकी

उदारता जगद्विख्यात है और यह जरूरी है कि हमारे स्कूल तथा कालेज उसे प्रोत्साहित करें। अगर हम धर्म एवं संस्कृति का अध्ययन उस ढँग से करना चाहते हैं जो हमारे युग के अनुरूप है तो हमें सम्पर्क रूपी उत्तेजना की सहायता लेनी होगी।

मेरे नौजवान दोस्तो, हमारे देश में बहुत बड़ा परिवर्तन हो रहा है, और आपको अपना पथ बड़ी सावधानी से चुनना होगा। आपको महत्वपूर्ण निश्चय करने होंगे। अनेक राजनीतिक एवं आर्थिक दल हैं जो आपको आकर्षित करेंगे और आप अभी युवक हैं। युवक होने का अर्थ है एक ऐसी आयु का होना है जब हृदय निश्चय एवं विश्वास से पूर्ण होता है। वह जो कुछ जानता तथा मानता है असंदिग्ध रूप से मानता है। उसमें किसी वाद-विवाद की, बहस, मुबाहसे की, गुंजाइश नहीं हो सकती। वह ठीक वैसा ही है जैसा वह मानता है। मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि जिस विश्वास से इस संस्था का निर्माण हुआ है उसी से आप भी शक्ति-संचय करें, एवं उसकी रक्षा तथा प्रसार में लग जाँय, और इतना ही बहुत है। क्योंकि सफलता हमारे हाथ से बाहर की बात है।

सभ्यता और न्याय

जब से मैं यहाँ हूँ बराबर देख रहा हूँ कि योरोप की स्थिति क्षुब्ध एवं चिन्ताजनक हो रही है। कोई भी विचारवान् एशिया-निवासी योरोपीय जातियों तथा उनके महान् कामों की प्रशंसा एवं उन पर श्रद्धा किये बिना नहीं रह सकता। जब वह योरोप की क्षितिज पर संकट की काली घटायें घिरतीं देखता है तो उसका हृदय मसोस उठता है। भूधराकार काले बादल की तरह घृणा बड़े वेग के साथ फैल रही है। आतंक-प्रदर्शन ही राष्ट्रों की नीति बन गया है। संसार संत्रस्त है, हमारे दिल बैठे जा रहे हैं—हमें विवश होकर जिज्ञासा करनी पड़ती है कि आखिर हम अपनी रक्षा क्यों नहीं कर पा रहे हैं, आखिर यह अज्ञेय संसार इतना जंगली, इतना जड़, इतना दुखी क्यों है, आखिर हम इन अद्भुत घटनाओं एवं वीभत्स विलक्षणताओं के लिये उत्तर-

दायी क्यों बन रहे हैं ? जन साधारण का कल्याण करने के लिये, दरिद्रता-दोष, राष्ट्रीय हीनता एवं जातीय अपमान सम्बन्धी अधर्म को मिटाने के लिये तथा एक नीति-मूलक, न्याय-युक्त मानव-समाज स्थापित करने लिये हमारे पास अनन्त शक्तियाँ हैं तो भी संसार के प्रमुख राष्ट्र इसी विश्वास पर जमे बैठे हैं कि शक्ति ही राष्ट्रीय जीवन का एकमात्र लक्ष्य है और उसकी प्राप्ति के लिये सत्य एवं स्वतंत्रता के समस्त सिद्धान्तों की बलि दी जा सकती है।

इन राष्ट्रों का संसार एक शिशुशाला के समान है जिसमें अहंमन्य, दुराग्रही, दुष्ट-प्रकृति के वे बच्चे भरे हैं जो बराबर एक दूसरे की निर्भर्त्सना किया करते हैं, जो सांसारिक सम्पत्ति रूपी खिलौनों को बड़ी शान के साथ प्रदर्शित करते हैं तथा उन सम्पत्ति-खिलौनों के आकारमात्र को देखकर आनन्द से फूल उठते हैं। भौतिक ऐश्वर्य तथा प्रभुता के लिये घोर प्रतिद्वन्द्विता के कारण एवं मिथ्या प्रचार के लिये प्राकृतिक शक्तियों का प्रयोग करने में मानव-मस्तिष्क की कुशलता के कारण जनता की घबराहट तथा उस पर होने वाला अत्याचार – भय एवं लोभ का साम्राज्य—बहुत बढ़ गया है। किसी राष्ट्र का महत्व उसकी सम्पत्ति की विपुलता एवं शस्त्रास्त्र-सज्जा की प्रचुरता से निर्धारित किया जाता है। जिस व्यक्ति की वार्षिक आय ५०० पौण्ड से कम होती है वह नगण्य समझा जाता है, उसका मजाक उड़ाया जाता है तथा जो राष्ट्र अपने सब नागरिकों को सैनिक नहीं बना डालता वह अपदार्थ गिना जाता है। हमने एक ग़लत विचार-

प्रणाली को अपना लिया है. अतएव ज्ञानियों के लिये भी आज निष्पक्ष व्यवहार करना यदि असम्भव नहीं, तो कठिन तो अवश्य ही हो गया है।

उन्नति में अड़चन

सभ्यता के उन्नति-मार्ग में आज सबसे बड़ी बाधा सुप्रसिद्ध जाति एवं वर्ग की संस्थायें हैं जिनसे हमें ममता हो गई है। उनका परिणाम सदा ही भयानक होता है। आज आधुनिक सभ्यता में उन लक्षणों का उदय हो गया दिखाई पड़ता है जो सभ्यताओं के पतन-काल में दृष्टिगोचर होते हैं जैसे सहिष्णुता और न्याय का लोप, लोक-दुखों के प्रति उदासीनता, विलास-प्रेम, व्यक्तियों एवं समूहों की स्वार्थपरता तथा जाति एवं देश के नाम पर अलग अलग गुट बना कर रहना आदि। एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था जिसका उद्देश्य मनुष्य समाज का कल्याण नहीं प्रत्युत थोड़े से शक्तिशाली व्यक्तियों का स्वार्थ-साधन है निश्चय ही अन्याय-मूलक है और उसकी रक्षा केवल हथियारों से, केवल नैतिक-शक्ति से ही की जा सकती है।

अपनी निर्भय-स्थिति को क़ायम रखने के लिये, जिसे भ्रान्तिवश सभ्यता का नाम दिया जाता है, हम वाह्य अनात्म-पदार्थों की शरण में जा पड़े हैं। घातक अस्त्र तथा सम्पत्ति-राशि को ही हमने परित्राण का उपाय समझ लिया है। जो लोग हमारे लोभ एवं अन्याय के शिकार हैं उनसे अपनी रक्षा करने के लिये हम नवयुवकों को ऐसी शिक्षा देते हैं जिससे वे मारने, काटने तथा विनाश करने के लिये

उत्साहित हों। यदि हमारे विचारों तथा व्यवहार में प्रबल परिवर्तन न हुआ तो मनुष्य जाति का विनाश अवश्यंभावी है—किसी प्राकृतिक दुर्घटना अथवा भयंकर रोग के कारण नहीं, वरन् इस सभ्यता के कारण जो मानव-तृष्णा एवं वैज्ञानिक प्रतिभा का एक विलक्षण सम्मिश्रण है। जैसा मनुष्य आज है वही तो सृष्टि का चरम लक्ष्य नहीं है। यदि वह अपने स्वार्थ एवं लोभ की दुर्दम वासना को नियंत्रित नहीं कर सकता या करना नहीं चाहता, यदि वह जाति और समूह, वर्ग और राष्ट्र के काल्पनिक भेदों का परित्याग नहीं कर सकता या करना नहीं चाहता, तो अवश्य ही उसका स्थान किसी अन्य जाति को लेना होगा जिसमें अधिक सहृदयता एवं कम जड़ता होगी।

पूर्व की ओर दृष्टि

आज हमारी सभ्यता का मोह भंग हो चुका है। सैनिक शक्ति पर आश्रित अपने जीवन में उसे आत्म-विनाश की सम्भावना प्रतीत होने लगी है, अतएव वह पूर्व की ओर आशा-भरी दृष्टि से देख रही है। भारतीय सभ्यता में वे महान् गुण नहीं हैं जिन्होंने पश्चिम के नवोदित राष्ट्रों को विश्व-इतिहास की रंगभूमि में विशिष्ट गत्यात्मक शक्ति का केन्द्र बना दिया है। उसमें उच्चाकांक्षा, उदारता एवं साहस नहीं है, लोक-भावना एवं सामाजिक उत्साह नहीं है। किन्तु वह बहुत दिनों से जीवित है, उसने अनेक संकटों का सामना किया है तथा उनके भीतर भी अपने स्वरूप की रक्षा की है। उसकी लम्बी आयु से पता चलता है कि उसे

जीवन-रहस्य का सहज ज्ञान है। इसमें अद्भुत जीवट है, एक ऐसी शक्ति है जिसने अनेक सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों के अनुरूप अपने को बना लेने की योजना उसे दी है। थोड़ा सा भी ज्ञान तथा सहिष्णुता प्राप्त करने के लिये कदाचित् बहुत ज्यादा दुःख-शोक सहन करना पड़ता है। जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि ने और भी अधिक दृढ़ आग्रह के साथ उसे जीवित रक्खा है। क्या यह आशा दुराशा मात्र है कि वस्तुस्थिति को भली प्रकार समझ लेने से, पूर्व प्राप्त से आदर्श की सहायता से—मनुष्यता एवं स्नेह की आन्तरिक सत्यता से—इस दुखी, पीड़ित संसार को कुछ शान्ति तथा प्रेम की उपलब्धि हो सकेगी ?

मैं आशावादी हूँ। मेरा विश्वास है कि मनुष्य की आत्मा सदा ही दबी नहीं रह सकती। मानव जाति की निगूढ़ दृढ़ता को मनुष्य-संसार की नश्वर निःसारता नष्ट नहीं कर सकती। विभिन्न देशों के लोग शान्तिपूर्वक रहना चाहते हैं। उनके नेतागण दूसरों के सम्बन्ध में जिस घृणा, दमन एवं भय का प्रचार किया करते हैं उनकी उसमें जरा भी आस्था नहीं। वे दूसरों के कष्टों में, केवल इसीलिये कि वे भिन्न जाति एवं देश के हैं, आनन्द-बोध नहीं कर सकते पर भयदर्शक मुखर देश-भक्त विष उगल उगल कर उनकी सामाजिक प्रकृति को अनेक भांति के अद्भुत रूपों में बिगाड़ देते हैं। हमें ऐसे नेताओं की जरूरत है जो उन कृत्रिम जीवन-पद्धतियों को छोड़कर आगे बढ़ जाँय जो हमें जीवन के मूल-स्रोत से दूर भटका ले जाती हैं और जो इस

बात को स्वीकार करें कि दूसरे राष्ट्रों तथा जातियों के प्रति जो हमारे क्रूर भाव हैं वे केवल बनावटी चेहरे हैं जिनका निर्माण चिराभ्यस्त दम्भ के द्वारा ही हमने किया है। उस जातीयता तथा राष्ट्रीयता को, जो हमारी क्षुद्र भावनाओं को पसन्द आती हैं, जो हमें सबको धमकी देना, धोखा देना, मारना तथा लूटना सिखाती हैं और साथ ही जो यह विश्वास दिलाती हैं कि ऐसा करके हम धर्म का काम करते हैं, आज़ाद मनुष्य घृणा की दृष्टि से देखता है। वह तो समस्त जातियों एवं राष्ट्रों को एक ही आकाश के नीचे स्थित देखता है। प्रत्येक मनुष्य, यदि वह असाधारण क्रूर-हृदय नहीं है, दूसरों के प्रति दया का व्यवहार करके उससे कहीं अधिक आनन्दित होता है जितना वह निर्दय बनकर हो सकता है। हमारा स्वभाव ही ऐसा है कि हम भद्र तथा न्यायी होना पसन्द करते हैं पर हमारे क़ानून तथा संस्थायें हमें बराबर ऐसी उत्तेजना दिया करती हैं कि हम अपने स्वभाव से कहीं अधिक हीन बन जाँय। हमें मनुष्यता के लिये लड़ना है; आज हम अपने साथी मनुष्यों के प्रति मानव-सम्बन्ध को, मानव-जीवन के प्रति मानवीय उत्तर-दायित्व को, खोये दे रहे हैं।

मशीन का राज्य

हम जो चाहते हैं वह नहीं कर पाते। मशीन ने मनुष्य की इच्छा को बिलकुल शक्तिहीन बना दिया है। वर्तमान वातावरण की आवश्यकता के ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से हम सब दास बन चुके हैं। अपनी मनुष्यता को हमें फिर

से प्राप्त करना होगा। बड़ा ही संक्षोभक युग है; पृथिवी काँपती मालूम पड़ती है, भविष्य अज्ञात सम्भावनाओं से पूर्ण दिखाई पड़ता है। उस भविष्य की क्या रूपरेखा होगी यह हम में से प्रत्येक के ऊपर निर्भर है। हमारे प्रयत्नों का विशेष महत्व है। अनेक लोग ऐसे भी हैं जो निराश हो चुके हैं और जिनका मत बन चुका है कि आधुनिक संसार की मूर्खताओं का कोई उपचार नहीं है; केवल दो गतियाँ सम्भव हैं, पलायन अथवा विनाश। पर यह ठीक नहीं है। हम में से प्रत्येक की शक्ति में एक और उपाय है और वह है प्रेम का सिद्धान्त, जिसने अनेक अत्याचार-पूर्ण परिस्थितियों में भी मानवात्मा को धैर्य और उत्साह का पाठ पढ़ाया है और जो भविष्य में भी ऐसा करता रहेगा। हमें मनुष्य बनना चाहिये। लड़ने झगड़ने का काम पशुओं के लिये छोड़कर मनुष्य बन कर, आत्मा एवं मनुष्यता के हेतु, आवश्यक होने पर, दुखों तथा कठिनाइयों को भी सहन करने को तैयार रहना चाहिये।······योरोपीय तथा ग़ैर-योरोपीय- काले तथा एशिया वाले सबको एक राष्ट्र में सम्मिलित करना बहुत कठिन काम है पर वह असम्भव नहीं है। व्यक्तिगत प्रभेदों को मिटाकर सब एकाकार कर देना आवश्यक नहीं है, पर उनके रहते भी पारस्परिक कलह को मिटाया जा सकता है। जब तक किसी एक समुदाय का धन, मान, तथा शक्ति दूसरे समुदाय की ग़रीबी, अपमान तथा पराधीनता पर आधारित है तब तक हम में भय एवं सन्देह बराबर रहेंगे। जो राष्ट्र सम्पत्ति तथा श्रम, छुट्टी तथा अवसर के अनुचित बटवारे

को स्वीकार कर लेता है वह अधिक समय तक टिक नहीं सकता। उदार तथा दूरदर्शी राजनीति का लक्ष्य होना चाहिये कि वह भिन्न भिन्न समुदायों को यह भली भाँति समझा दे कि वे दक्षिण अफ्रीका के हैं, उनके हृदय में देश के लिये अभिमान जगा दे और उन्हें अपनी मानवता का पूर्ण-रूपेण विकास करने में सहायता दे। मुझे कुछ ऐसे नेता भी मिले हैं जिनका दृढ़ विश्वास है कि नैतिकता, शान्ति-रक्षा, राष्ट्र की स्थिरता तथा सुरक्षा का अनुरोध है कि सार्वजनिक न्याय तथा स्वतंत्रता के आधार पर हम इन सबको पुनर्व्यवस्थित करें। मुझे पूर्ण आशा है एवं भगवान् से मेरी यह प्रार्थना है कि वे लोग एक न्याय-प्रिय तथा धनपूर्ण दक्षिण अफ्रीका बनाने में सफल हों क्योंकि बिना न्याय के सम्पत्ति वैसी ही है जैसे बालू पर बना मकान।

यथार्थ स्वतंत्रता

कुछ लोगों का ख़याल है कि विचार इतिहास को प्रभावित नहीं करते। वह कहते हैं कि चेतना अस्तित्व को प्रभावित नहीं करती प्रत्युत अस्तित्व चेतना को प्रभावित करता है। पर यह ठीक नहीं है। आरम्भ में केवल शब्द था और वही शब्द मांस बन गया। कार्य्य के पहिले विचार, इतिहास के पहले दर्शन, सभ्यता के पहले संस्कृति की सत्ता आवश्यक है। हमें सभ्यता की भ्रान्ति राजनीतिक व्यवस्थाओं, आर्थिक संस्थाओं एवं शिल्प विषयक उपकरणों में नहीं करना चाहिये। वह तो उन सब में एक व्यापक दृष्टि रखने का नाम है, उन सिद्धान्तों एवं आदर्शों का नाम है जो इन संस्थाओं को जीवित रखते हैं। सभ्यता तो वास्तव में आत्मा की चेष्टा अथवा गति है। भारतीय सभ्यता का आधार भारतीय विद्या है।

यह लगभग ४०—५० शताब्दियों से चली आ रही है। आभ्यंतरिक एवं वाह्य आक्रमणों का इसने सफलतापूर्वक सामना किया है। इसने ग्रीक, मंगोल, तथा योरोप निवासियों के समराह्वान का सहर्ष स्वागत किया है। इसने-मिश्र, ईरान, ग्रीस, रोम तथा कुछ अन्य सभ्यताओं को अस्त होते देखा है। पर स्वयं अब भी जीवित एवं सक्रिय है। इससे पता चलता है कि इसकी कुछ ऐसी विशेषता है जो देश तथा काल से परिच्छिन्न नहीं। एक विनाशहीन, नित्य, सनातन शक्ति इसे समस्त आक्रमणों से बचाकर रक्खे हुये है। इसमें मृत्युञ्जयता का गुण है।

हम किसी सभ्यता को जीवित क्यों कहते हैं? सभ्यता को सक्रिय कब कहा जाता है? सभ्यता तब जीवित कही जाती है जब वह ऐसे विवेकशील मनुष्यों को उत्पन्न करने में समर्थ हो जो परम्परा-प्राप्त संस्कृति को अपने व्यक्तिगत अनुभव से त्रुटिहीन, शक्ति-सम्पन्न एवं समृद्ध बना सकें। यह तो स्पष्ट ही है कि इस देश ने इतिहास के प्रत्येक युग में, कैलाश पर्वत से कुमारी अन्तरीप तक, पुरी से द्वारका तक, देश के प्रत्येक भाग में, उन अनुपम विशिष्ट गुणशाली महात्माओं को उत्पन्न किया है जो केवल अपने कार्य्यों के ही अनुरोध से महान् नहीं हैं वरन् जो अपने में ही महान् हैं, जिन्होंने देश के जीवन तथा विचारों पर अपनी अमिट छाप लगा दी है। उनका अद्वितीय ज्ञान, उनका अपूर्व आत्म-संयम, उनका आध्यात्मिक उत्कर्ष सब प्रकट करता है कि मनुष्य जीवन का चरम उद्देश्य आत्मो-

पलब्धि में तथा विश्व-प्रेम का अभिन्न अवयव बनकर आचरण करने में है।

"मनुष्य क्या है?" यह एक बहुत प्राचीन प्रश्न है। क्या वह केवल जीवधारी है? क्या वह आर्थिक संघर्ष में संलग्न केवल आर्थिक मनुष्य है? क्या वह ऐसा राजनीतिक प्राणी है जिसका मस्तिष्क उन अधकचरे अनिपूर्ण राजनीतिक सिद्धान्तों से भरा है जो विद्या, ज्ञान, धर्म आदि सबको दबा बैठे हैं? क्या उसका कोई दूसरा आध्यात्मिक पक्ष भी है जो सांसारिक साधनों से सन्तुष्ट नहीं हो सकता?

जीवन का उद्देश्य

हम सब लोगों के जीवन में कभी कभी ऐसे क्षण भी आ जाते हैं जिनका सम्बन्ध किसी दूसरे लोक से होता है और जिनसे हमें अपने सामान्य जीवन का मेल कर लेना होता है। यदा कदा हम में से प्रत्येक कदाचित् उस निरपेक्ष परमोत्कृष्ट आनन्द की अनुभूति भी करता है जब वह किसी अतीन्द्रिय जगत् में विचरण करता हुआ सा अपने को पाता है, जब उसका मस्तिष्क दिव्य प्रकाश से उद्भासित तथा हृदय अक्षय आनन्द से पूरित हो उठता है; जब वह देश, काल, तथा जीवन को मृत्यु की सी गम्भीर शान्ति में पहुँचा हुआ पाता है, जब वह अनन्त सौन्दर्य का स्पर्श करता है और उस आध्यात्मिक तथ्य के साक्षात्कार से आनन्द-विभोर हो जाता है जिसकी प्रतिच्छाया अमरता एवं मृत्यु है। "यस्य छाया अमृतम् यस्य मृत्युः" (जिसकी छाया अमृत है, मृत्यु है)। यदि मनुष्य की रुचि में आध्यात्मिकता

है, यदि उसके गठन के मूल में ही आध्यात्मिकता का अंश मौजूद है, तो जीवन तथा सभ्यता का उद्देश्य उस अंश का पता लगाना है। प्लेटो के शब्दों में, शिक्षा का अर्थ "इस प्रकार आत्मा को चक्रवत् संचलित करना है कि उसके नाना रूपों में एकत्व की, एकरूपत्व की, उपलब्धि हो सके, भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियों का पृथक्-पृथक् ज्ञान न हो।"

शिक्षा का लक्ष्य हमें उच्च-जीवन की प्राप्ति कराना है। लोगों ने उसकी अनेक प्रकार की परिभाषायें दी हैं। कुछ लोगों ने उसे व्यक्ति का परिस्थिति के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने का साधन बनना, व्यक्ति को आर्थिक व्यवस्था में यथोचित स्थान दिलाना अथवा व्यक्ति को श्रेष्ठ नागरिक बनने के लिये तैयार करना बताया है। यह सब अपना महत्व रखते हैं पर शिक्षा का सबसे अधिक महत्वपूर्ण लक्ष्य तो उस दूसरे लोक का दर्शन कराना है जो हमारा लोक है, वह लोक जो अदृश्य तथा अस्पृश्य है, जो देश तथा काल से परे है। हम स्वर्ग के नागरिक हैं। देश एवं काल के भौतिक जगत् में हमने जन्म ग्रहण किया है। हमें वह योग्यता प्रदान की जानी चाहिये जिससे हम स्वर्ग के राज्य में बेटे का अधिकार प्राप्त कर सकें। शिक्षा को चाहिये कि हमें दूसरा जन्म दे। ऐसा करना हमारी प्रकृति के प्रतिकूल किसी विजातीय द्रव्य को हमारे ऊपर जबर्दस्ती लादना नहीं है। वह तो सिर्फ़ उसी को प्राप्त करने में हमारी सहायता करना है जो पहले से ही हमारे भीतर

मौजूद है। हम पत्थर को निचोड़ कर खून निकालने का प्रयास नहीं कर रहे हैं।

अमरता तथा मृत्यु दोनों का ही निवास मनुष्य के हृदय में है। सांसारिक तड़क भड़क एवं कामोन्माद में पड़कर हम मृत्यु की ओर चले जाते हैं। सत्य की सेवा करके हम अमर जीवन प्राप्त कर लेते हैं। उसी सत्य की ओर बढ़ने में हमारी सहायता करना वास्तविक शिक्षा का उद्देश्य है।

आज कुछ ऐसे लोग भी हैं जो अपने दूषित सत्य को हमारे ऊपर भी लादना अपना कर्तव्य समझते हैं। वे मनुष्यों को पशु समझते हैं जिसे जिस ओर चाहो हाँक ले जाओ अथवा वे उसे कुम्हार की मिट्टी समझते हैं जिसे जो रूप चाहो दे दो।

वे चाहते हैं कि हम लगकर काम करें; हमारी आन्तरिक स्वतंत्रता छीनकर, अपने वास्तविक लक्ष्य से हमें दूर हटाकर वे हमारी दशा नट के जानवरों की सी बना देना चाहते हैं। इस प्रकार की सैनिक व्यवस्था मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं रहने देना चाहती।

पर यह भी बुद्धिमानी का काम न होगा कि हम उन्हें बिलकुल ही हस्तक्षेप न करने दें। नवयुवकों को उनके नेतृत्व, अनुभव एवं शिक्षा से लाभ न उठाने देना भी बुद्धिमानी का काम नहीं है। इससे प्रगतिहीनता को प्रश्रय मिलेगा और तब लोग असत्य के दौरात्म्य को अनवस्था की अस्तव्यस्तता की तुलना में अधिक पसन्द करने लगेंगे।

शिक्षा का सच्चा आदर्श तो भगवद्गीता ने हमारे

सम्मुख रक्खा है। उसमें गुरु शिष्य को अपनी विचार-धारा से भली भांति परिचित कराने के पश्चात् स्वतंत्रता-पूर्वक अपना निर्णय करने को छोड़ देता है। "यथा इच्छसि तथा कुरु"। व्यक्ति को अपने आप निर्णय करने में सहायता देना, उसे स्वतंत्र मनुष्य बनने में मदद पहुँचाना, शिक्षा का वास्तविक अर्थ है। आत्मा का विकास तो स्वतंत्रता के ही वातावरण में सम्भव है। 'स्वतंत्रता' शब्द तो हाथ से लटकाकर ले जानेवाली छोटी पेटी के समान है, उस झोले के समान जिसमें आप जो चाहें भर दें। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का कहना है कि वह स्वतंत्रता के लिये अहिंसात्मक युद्ध कर रही है; अनेक मजदूरों का ख़याल है कि जब वे वेतन-वृद्धि के लिये अथवा सामूहिक स्वामित्व के लिये, सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण के लिये, अपनी माँग पेश करते हैं तो वे भी स्वतंत्रता के लिये ही लड़ते हैं। राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ वाह्य शासन से अपने देश को मुक्त करना है; वैधानिक स्वतंत्रता का अर्थ है कि किसी वर्ग अथवा तानाशाह के अत्याचार से हम मुक्त हो सकें; क़ानूनी आजादी का मतलब है कि न्याय के निश्चित नियमों की मान्यता में विश्वास किया जा सके; आर्थिक स्वतंत्रता का अर्थ है कि प्रत्येक मनुष्य दरिद्रता एवं आर्थिक चिन्ता से मुक्त रह सके। इन सभी का अपना अपना मूल्य है, पर वे सब तो किसी लक्ष्य के साधन मात्र हैं।

वास्तविक स्वतंत्रता तो आध्यात्मिक स्वतंत्रता है। सच्चा

स्वराज्य तो मनुष्य की आत्मा का स्वराज्य है। व्यक्ति ही संसार का केन्द्र है। जीवन की अभिव्यक्ति व्यक्ति में होती है सत्य का दर्शन व्यक्ति को होता है। जीवन की अनुभूति व्यक्ति को होती है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वप्न देखने, स्नेह करने तथा ध्यान धरने की आज़ादी होना चाहिये। आप व्यक्तियों को समूह-भुक्त कर सकते हैं, उन्हें भेद-विहीन एकत्व नहीं दे सकते। मानव इतिहास में जब कभी जो भी उन्नति हुई है उन सब का श्रेय मनुष्य की आत्मा को ही है।

यह अजेय आत्मा जो विविध नाम रूपों का आधार है, जो मनुष्यों के अनवरत प्रयासों, उच्चाकांक्षाओं तथा सिद्धियों का मूल है, आशा-युक्त, प्रयास-निरत, असफल होकर भी प्रगतिशील, कुछ पाकर अधिक पाने को आगे बढ़नेवाली मनुष्य की यही आत्मा मानव इतिहास का केन्द्र बिन्दु है। इनको हानि पहुँचाना, इसका दमन करना, मनुष्य को जानवर बना देना है।

हमारे अन्य प्रकाशन

रामायण (गुटका)

गोस्वामी तुलसीदास रचित—शुद्ध पाठ तथा साफ़ छपाई—७०० पृष्ठ ५×३ $\frac{3}{4}$ मूल्य १॥)

महाभारत की कथा

श्रीशचन्द्रदेव रचित—सुन्दर चित्रों सहित। लगभग २०० पृष्ठ। मूल्य लगभग ४)

सरस भोजन कैसे बनायें

५०१ प्रकार के स्वादिष्ट भोजन बनाने के सरल उपाय।

लेखिका श्रीमती वृन्देश्वरी भार्गव—सुंदर ढाँचा, आकर्षक कलेवर और कारीगरी के नुस्खे दे रखे हैं। पृष्ठ २३४, बड़ा साइज कपड़े की जिल्द और मनमोहक आवरण पृष्ठ मूल्य ३॥।)

कृषि-उन्नतियाँ

लेखक विद्याभूषण रा० सा० पं० तेजशङ्कर कोचक—पृष्ठ ८८ दफ़्ती की जिल्द सुन्दर आवरण ५×७॥ मूल्य १।=)

कृषि-शास्त्र

विद्याभूषण रा० सा० पं० तेजशङ्कर कोच्क बी० ए० एस सी०, एम० आर० एजी० एस०, पी० ए० एस०, ए-एम-टेक-आई०, एफ़ आर० एच० एस०, भूतपूर्व प्रिन्सिपल, गवर्नमेण्ट कृषि विद्यालय। दसवाँ संस्करण—४०० पृष्ठ ५×७॥ सचित्र। मूल्य २।॥=)

कृषि लेखा अर्थात् फ़ार्म बुक कीपिंग

रचयिता विद्याभूषण रा० सा० पं० तेजशङ्कर कोचक—तीसरा संस्करण मूल्य १)

विवाह-शास्त्र

लेखक—डा० एस० एन० शर्मा, एम० बी० बी० एस०

पृष्ठ लगभग २५० सुन्दर छपाई, चित्र सहित, मूल्य ५)

इस पुस्तक में नवदम्पति और गृहस्थ के जानने योग्य उन सब बातों का समावेश है जो कि नाम स्वयं बताता है।

हस्त-रेखाओं से भाग्य परीक्षा

लेखक—श्रीनिवास 'श्रीपति'

लगभग १६० पृष्ठ, १०० से ऊपर चित्र और हाथों के नक्शे। मूल्य ॥)